ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक : 50-51, जनवरी-अप्रैल, 2014

संरक्षक संपादक - प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति

संपादक - राकेश श्रीमाल

प्रकाशक :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स,
वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
Website : www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)

एक अंक : रु 20

वार्षिक सदस्यता : रु 120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक रु. 145 और द्वैवार्षिक रु. 265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 01, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो.09212796256)।

सज्जा और कैरीकेचर - विनय चाणेकर
टंकण सहयोग : रामबरन

संपादकीय संपर्क : 09764495276
ईमेल : shubhshubh2012@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश यादव
प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स,
वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07125-232943

PUSTAK - VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post- Gandhi Hills, Wardha- 442005 (Mahrashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032
email : ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

धरोहर : राहुल सांकृत्यायन द्वारा निराला को लिखा पत्र 2

पुस्तक और मैं : मेरा लोक ही ... / भगवानदास मोरवाल 4

वैश्विक विमर्श और हम : विश्व दर्पण में हिंदी आलोचना का अक्स / विनोद शाही 7

डायरी : डायरी में कई समयों की गूँज / ज्ञानप्रकाश विवेक 10

इतिहास विमर्श : इतिहास में जीवन / प्रेमपाल शर्मा 13

संस्कृति विमर्श : सच का आईना ... / नीलाभ कुमार 16

उपन्यास : मुसलमान होने का दर्द / प्रेमचंद सहजवाला 19

वैचारिक : अनुभूतियों के आकाश में ... / भरत प्रसाद 21

शताब्दी स्मरण : लुप्त होती मानवता की तलाश / तरसेम गुजराल 23

पर्यावरण : संतुलन बचाने की कोशिश / मनोज मोहन 27

कविता : अनुभव और संवेदना की नई जलवायु / ओम निश्चल 29

धरोहर : फ़िराक़ गोरखपुरी की हस्तलिखित गज़ल 32

धरोहर : सुमित्रानंदन पंत की हस्तलिखित कविता 33

धरोहर : केदारनाथ अग्रवाल की हस्तलिखित कविता 34

कविता : शब्दार्थ की अकूत वैकल्पिकता / शंभु गुप्त 35

यात्रा वृतांत : पूर्वोत्तर भारत की असलियत / पंकज पाराशर 37

संस्मरण : धीमी धीमी आँच में संस्मरण / पल्लव 39

यात्रा वृतांत : सात देशों के यात्रा वृतांत / सीमा शर्मा 41

कहानी : कुछ नये रचने की आकांक्षा / वेदप्रकाश अमिताभ 43

कविता : संपूर्ण क्रांति और रेलगाड़ी... / चंदन श्रीवास्तव 44

वेबसाइट : आपके घर का पुस्तकालय / तेजी ईशा 47

प्रकाशन चक्रव्यूह : क्यों नहीं आ रहा... / प्रांजल धर 48

पढ़ाई लिखाई : स्मृति का तिलिस्मी दरवाजा... / गंगाप्रसाद विमल 51

मेरी शाम : आ रही मेरे जीवन की सांध्य बेला / अजित कुमार 52

जो अभी पढ़ा : जीवन का लेखा-जोखा / लीलाधर मंडलोई 53

जिंदगी और पुस्तकें : जब माँ पास नहीं होती... / मनीषा पांडे 54

मुंबई में कवि : कविताओं ने मुझे बचाया.../ निलय उपाध्याय 58

मेरी टेबल : का करि सकत कुसंग / अरुण देव 59

मेरे सिरहाने : सिरहाने से अधिक.../ पुष्पिता अवस्थी 60

पाठ संस्कार : कलाएं मेरे लिए सुंदर पाठ है / भालु मोंढ़े 62

संपादक की पसंद : मुझ पर संगीत ऐसे चढ़ गया... / राकेश श्रीमाल 63

स्मरण में कुछ वाक्य : गैब्रिएल गार्सिया मार्खेज 64

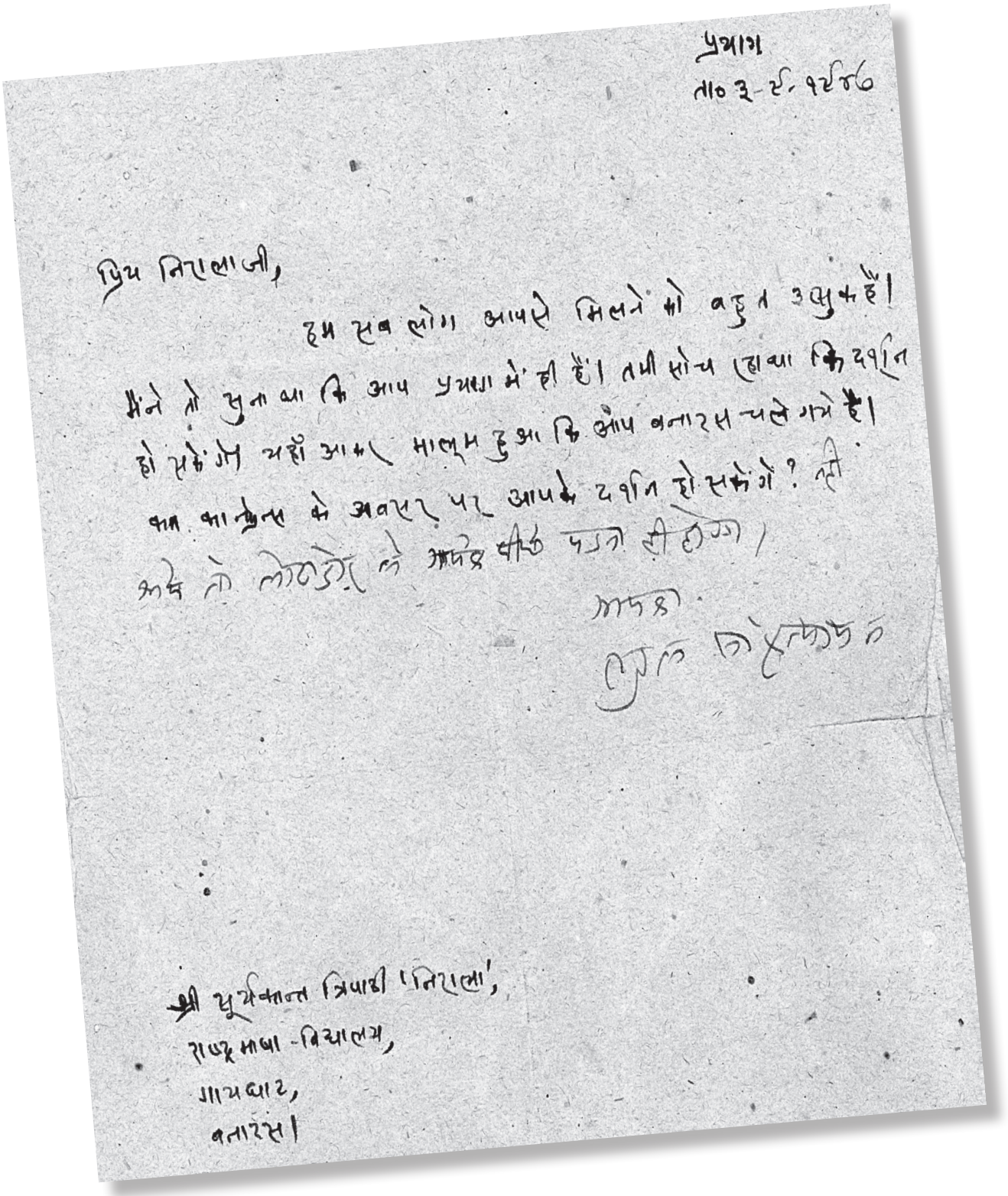

प्रयाग
ता० ३-९-१९४७

प्रिय निरालाजी,

हम सब लोग आपसे मिलने को बहुत उत्सुक हैं। मैंने तो सुना था कि आप प्रयाग में ही हैं। तभी सोच रहा था कि दर्शन हो सकेंगे। यहाँ आकर मालूम हुआ कि आप बनारस चले गये हैं। क्या कान्फ्रेन्स के अवसर पर आपके दर्शन हो सकेंगे? ही अके तो लोटकेर ले आदेश कीछ पत्रो ही होगा।

आपका
राहुल सांकृत्यायन

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला',
राष्ट्रभाषा-विद्यालय,
गायघाट,
बनारस।

राहुल सांकृत्यायन द्वारा निराला को 3 सितंबर 1947 को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

संपादकीय

हाथ में लेकर पढ़ी जाने वाली किताबों के भविष्य के बारे में इस सूचना प्रौद्योगिकी युग में तरह-तरह की शंकाएं लगभग विश्वास की हद तक प्रचलन में हैं। इसे पुख्ता करने के लिए ई-बुक्स की बढ़ती तादाद भी अपनी भूमिका निभा रही है। इक्कीसवीं सदी के इस दूसरे दशक में विश्व के कई ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण समाचार पत्र व पत्रिकाएं मुद्रण की बजाय केवल ई-संस्करण में अवतरित हुए हैं। ऐसे में पुस्तकों पर केंद्रित यह पत्रिका अपने तईं पुस्तकों के पाठ-संस्कार की एक अलग लेकिन विशिष्ट दुनिया से सरोकार रखती है। मुख्यतः पुस्तक समीक्षाओं की केंद्रीय विषयवस्तु लिए इस पत्रिका के पिछले अंक से हमने इसे पुस्तकों के विभिन्न आयामों से जोड़ने का प्रयास किया है। इस पाठकीय समाज में पुस्तकें किस तरह दिनचर्या के अनिवार्य हिस्से की तरह मौजूद हैं, इसे विभिन्न स्तंभों के जरिए आंशिक लेकिन प्रतिनिधित्व रूप में समेटा गया है। सुधी पाठकों की इस जिज्ञासा को, कि कोई लेखक अपने सिरहाने कौन-कौन सी पुस्तकें रखना पसंद करता है, उसकी बितायी शामों में पुस्तकों का क्या महत्व है, उसने अभी क्या पढ़ा, एक तरह से उन पाठकों में उस लेखक के जरिए उन विशिष्ट पुस्तकों के प्रति सम्मोहन उत्पन्न करना ही है। ऐसे ही कई अन्य स्तंभ इसके पूर्व अंक से प्रकाशित हैं, जिस पर अपेक्षा से अधिक सकारात्मक प्रतिक्रियाएं हमें मिली हैं। उम्मीद की जा सकती है कि इन नए स्तंभों के जरिए पुस्तकों के अपने होने की गहन उपस्थिति हम सब अनुभव कर पाएंगे।

किसी भी भाषा के पाठक तक कोई पुस्तक लेखक और प्रकाशक, यानी रचना और वितरण की ऊहापोह के उपरांत ही पहुंचती है। यह जानना दिलचस्प ही होता है कि लेखक और प्रकाशक के दरमियां जो रिश्ता होता है, वह क्या कभी व्यावसायिकता के परे भी संभव है? पिछले अंक से प्रारम्भ 'प्रकाशन-चक्रव्यूह' स्तंभ इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए एक महीन धागे पर जैसे-तैसे सरकते हुए इस तथ्य के सच से अवगत कराता है।

रूस में समाजवाद के अंत के समांतर 'इतिहास के अंत' की घोषणाएं सामने आई। फिर उत्तराधुनिक और उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श में परंपरागत सिद्धांतवाद के अप्रासंगिक हो जाने का सवाल खड़ा हो गया। बहुराष्ट्रीयकरण के साथ उठती भूमंडलीकरण की आवाज 'समकालीन वैश्विक विमर्श' को विमर्शबहुलता और स्थानीयता के विमर्श के आसपास केंद्रित होने की स्थिति की ओर ले गयी। हालात की यह तब्दीली ज्यादा नहीं तो इतनी बात के लिए अवश्य खुलती मालूम पड़ रही है कि अब वैश्विक विमर्श के लिए तीसरी दुनिया के विमर्शकारों की जरूरत भी थोड़ी-बहुत महसूस की जा सकेगी। यह बाकी दुनिया के लिए चुनौती व जिम्मेदारी की तरह प्रस्तुत होगी कि वे अपने तरीके से सोचें और विकास के वैकल्पिक रूपों की नक्शानवीसीं करें। इस पत्रिका के नियमित स्तंभ 'वैश्विक विमर्श और हम' के जरिए यह प्रयास रहेगा कि हम भारतीय विमर्श परंपराओं व समकालीन संदर्भ में तृतीय विश्व के अंग की तरह भारत की भूमिका से प्रकट होने वाले विमर्शों की ओर उन्मुख हों और अपनी 'स्थानीयता' के संदर्भ में समकालीन वैश्विक विमर्श के साथ अपने पक्ष से संवाद को प्रस्तुत करें।

विभिन्न अनुशासनों की पुस्तक-समीक्षा इस पत्रिका के केंद्र में रहेंगी। हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षाओं की जगह लगातार सिकुड़ती जा रही है। ऐसे में इस पत्रिका की जिम्मेदारी अधिक गहरे परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण और नई पुस्तकों का समीक्षा के बहाने आकलन भी है। एक तरफ हिंदी में 'पाठकों के अकाल' पर वाचिक विमर्श चलता रहता है तो दूसरी तरफ हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन में पहले की अपेक्षा कई गुना इजाफा हुआ है। जाहिर है कि बहुतेरी पुस्तकें इस पत्रिका से अनुपस्थित रह जाती हैं। हमारा हरसंभव प्रयास अधिकाधिक समीक्षाएं प्रकाशित करने का रहेगा।

पुस्तक प्रेमी पाठकों से आगामी अंक तक के लिए संक्षिप्त अलविदा।

मुखपृष्ठ

शमशेर बहादुर सिंह द्वारा 29 अप्रैल 1952 को बनाया गया आत्मचित्र

■ **राकेश श्रीमाल**

पुस्तक और मैं

मेरा लोक ही मेरी सबसे बड़ी किताबें हैं

■ भगवानदास मोरवाल

मैं इसे पूरी ईमानदारी से स्वीकार करता हूँ कि मैं उन विरले परम भाग्यशालियों में से नहीं हूँ जो यह दावा कर सके कि किताबें ही मेरा ओढ़ना है, और किताबें ही बिछोना। मैं उन भाग्यशालियों में से भी नहीं हूँ जो यह कह सके कि किन किताबों को पढ़कर मैंने अपने लेखन की सीढ़ियाँ तय कीं। सच तो यह है कि मैं उन बहुत से अभागों में से एक हूँ जिन्होंने ऐसी बहुत-सी देशी-विदेशी कालजयी रचनाओं/पुस्तकों के दर्शन ही नहीं किए हैं, जिन्हें पढ़कर हिंदी का एक बड़ा लेखक वर्ग लेखन की ऊँचाइयों को छू पाया है। हालांकि कहा यह जाता है कि लेखक बनने से पहले किसी भी व्यक्ति को खूब पढ़ना चाहिए। मैं इस धारणा से भी इत्तेफ़ाक नहीं रखता हूँ। परंतु यह व्यक्ति विशेष के सामाजिक, आर्थिक और एक हद तक उसके साहित्यिक परिवेश पर निर्भर करता है। उसका साहित्यिक विवेक और समझ इसी परिवेश से बनता-बिगड़ता है। मगर इसके बरअक्स एक पक्ष और है जो किसी भी लेखक के लिए साहित्यिक विवेक, समझ और उसकी परिपक्वता व नज़रिए को धार देता है, वह है उसका लोक और जीवन संघर्ष। पुस्तकें मेरी समझ से एक लेखक में लेखन के प्रति ललक और जिज्ञासा तो पैदा करती हैं किन्तु उसकी समझ को अपने लोक को समझे बिना न हम अपने सरोकारों को समझ सकते हैं न ही अपनी दुनिया को। किताबों से अधिक एक लेखक की दुनिया को ज़्यादा व्यापक उसका लोक ही बनाता है।

यहाँ मैं लोक का ज़िक्र बार-बार इसलिए कर रहा हूँ कि हमारी पूरी मध्यकालीन अर्थात भक्तिकालीन काव्य परम्परा का निर्माण इसी लोक में हुआ है। उस काल का पूरा काव्य अपने लोक से ही उपजा है। कबीर, रैदास, गुरु नानक, रसखान, रहीम और इनके समकालीन में मेवात के संत लालदास (लाल खाँ) जैसे लोक संतों ने पुस्तकों को पढ़-कर अपनी जीवन-दृष्टि समृद्ध नहीं की अपितु अपने लोक के प्रति वह उदारता थी, जिसके चलते संत लालदास जैसा अनाम संत मेवों से अधिक हिन्दुओं के आराध्य हैं। मेरे जैसे लेखक के लिए यह और भी दुष्कर है कि मैं यह दावा कर सकूँ कि मेरी लेखकीय दृष्टि किन पुस्तकों के चलते समृद्ध हुई। फिर भी मैं पीछे मुड़कर अतीत को टटोलते हुए याद करने की कोशिश करता हूँ तो सबसे पहले मेरी जिन रचनाओं से मुठभेड़ हुई वे थीं 'बड़े घर की बेटी', 'दो बैलों की कथा।' यह मुठभेड़ पाठ्यपुस्तकों के अंतर्गत आनेवाली रचनाओं से थी।

अगर छात्र जीवन से अलग हटकर एक पाठक की हैसियत से किसी रचना अथवा पुस्तक को पहली बार पढ़ने का प्रश्न है, तो सबसे पहले मैंने विलियम शेक्सपीयर का 'मैकबेथ' पढ़ी। सुनकर आपको हैरानी हो सकती है कि साहित्यिक दृष्टि से बंजर मेवात जैसे इलाके का कोई पाठक, वह भी मात्र तेरह-चौदह बरस का, शेक्सपीयर को पढ़ने की डीगें हाँक रहा है। पर सच है जब मैं शायद आठवीं कक्षा का छात्र रहा होऊंगा तब मैंने 'मैकबेथ' पढ़ लिया। पहली बार एक पाठक की हैसियत से पढ़े गए 'मैकबेथ' की कहानी बड़ी मजेदार है। दरअसल, मेरे पड़ोस में रहने वाले प्राथमिक विद्यालय के ओमप्रकाश मेहता, जिसे लगभग पूरा नगीना गाँव ओमी मास्टर कहकर बुलाता था, मात्र तीन किलोमीटर दूर दूसरे गाँव गुमट बिहारी के प्राथमिक विद्यालय में एकमात्र अध्यापक थे। एक दिन मैं उनके साथ गुमट बिहारी चला गया था। वहाँ जाकर मुझे पहली बार पता चला कि मैं जिस तरह के सरकारी प्राथमिक विद्यालय की इमारत में पढ़ा करता था, यहाँ तो कोई ऐसी सरकारी इमारत है ही नहीं। बल्कि वहाँ के एक मुग़लकालीन मक़बरे की इमारत में कुछ छात्रों को देखा। ओमी मास्टर ने पहले इस मक़बरे में चलने वाले विद्यालय को दिखाया। मक़बरे के नीचे मेहराबों

'काला पहाड़' 'बाबुल तेरे देश में' तथा 'रेत' जैसे उपन्यासों के माध्यम से लोक-मानस की अनुकृतियों को उकेरने वाले कथाकार भगवानदास मोरवाल की समकालीन हिंदी-कथा सहित्य में एक विशिष्ट पहचान है। प्रचलित विमर्शों के बरअक्स मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों, सर्वसत्ता व लोकविरोधी तत्वों तथा आम आदमी की प्रबल अदम्यता और जिजाविषा की पड़ताल करनेवाले कथाकार हैं।
संपर्क : 09971817173
ईमेल : bdmorwal@gmail.com

के अंदर देखा तो पाया विद्यालय का सामान वहां रखे कुछ लोहे के बड़े-बड़े संदूकों में रखा जाता है। उन्होंने एक संदूक को खोल कर दिखाते हुए बताया कि इस संदूक में विद्यालय का पुस्तकालय है। अगर मुझे कोई पुस्तक पढ़ने के लिए चाहिए, तो मैं ले लूँ। मैंने बेमन से एक पुस्तक उठा ली। पुस्तक क्या, मोटे-मोटे शब्दों में प्रकाशित ऐसी कायदानुमा पुस्तक, जो आजकल साक्षरता मिशन या दूसरी सरकारी योजना के अंतर्गत नवसाक्षरों के लिए प्रकाशित की जाती है पढ़ने के लिए ले ली। इसके बाद वापस आकर उन्होंने कहा, 'तुझे एक चीज़ दिखलाता हूँ'। उन्होंने दो छह-सात वर्षीय हमउम्र छात्रों, जो जुड़वा भाई थे, से कहा कि वे एक गीत सुनाएँ।

उन छात्रों ने मिलकर एक स्वर में जो फिल्म का गीत सुनाया, उसे सुनकर कोई भी मुग्ध हो सकता था। ओमी मास्टर ने बाद में मुझे बताया कि ये बच्चे मरीसी समुदाय के हैं। घर आकर मैंने 'मैकबेथ' को पढ़ना शुरू किया तो पढ़ता ही चला गया, और लगभग चौबीस पृष्ठों के इस संक्षिप्त नाटक, जो कहानी के रूप में प्रकाशित किया गया था, को कब पढ़ गया पता ही नहीं चला। 'मैकबेथ' में जहाँ तक मुझे याद है आसमान में उड़ते प्रेत जैसे विवरण दिए गए थे। इसके बाद मैंने ओमी मास्टर के इस अजूबे पुस्तकालय से और कई पुस्तकें पढ़ी, जिनमें इसी आकार की दूसरी पुस्तक 'हेमलेट' थी। मगर इसमें वह मज़ा नहीं आया, जो 'मैकबेथ' को पढ़कर आया था।

पुस्तकें पढ़ने का चस्का मुझे गुमट बिहारी के इस मुग़लकालीन मक़बरे के नीचे स्थित पुस्तकालय से प्राप्त की गई शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' ने लगाया। बाद में मैंने नगीना के अपने राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के पुस्तकालय से डेनियल डेफो की 'रॉबिन्सन क्रूसो' और 'पोंड ऑफ फ्लेश' के संक्षिप्त हिंदी अनुवाद 'वेनिस का सौदागर' शीर्षक से तथा एकाध पुस्तकें और पढ़ी। उन दिनों पहली बार मुझे पता चला था कि हर विद्यालय में विद्यार्थियों को आसानी से पुस्तकें पढ़ने को नहीं दी जाती हैं, यह सोचकर कि कौन इनकी गिनती करता फिरेगा। ग्यारहवीं कक्षा में पाठ्यक्रम में लगी जैनेंद्र की कहानी 'पाजेब' भी पढ़ी। जहाँ तक याद है 'परदा' कहानी भी छात्र जीवन के दौरान ही स्कूली दिनों में पढ़ी। बाद में, यह पढ़ने की ही ललक थी कि एक तरफ़ राजन-इकबाल सीरीज के अंतर्गत चर्चित जासूसी गुटके पढ़े जाने लगे, तो 'मनोहर-कहानियाँ' भी पढ़ी जाने लगीं, तथा जैसे-जैसे उम्र बढ़ने लगी और किशोरावस्था पार की, गुलशन नंदा के कई लोकप्रिय उपन्यास भी पढ़ गया। 'मनोहर कहानियाँ' पढ़ने के दौरान एक लेख प्रायः पढ़ने को मिलता था और वह था 'जब मैं पाकिस्तान में जासूस था' जैसे आत्म संस्मरणात्मक लेख लिखने वाला धमेंद्र गौड़। यह नाम उस समय दिमाग के एक कोने में ऐसा बैठा हुआ था कि दिल्ली आने के बाद धमेंद्र गुप्त को मैंने एक बार कह दिया कि मैंने आपको 'मनोहर कहानियाँ' में बहुत पढ़ा है।

जिस पुस्तक ने मुझे लेखक बनाने में सबसे बड़ी भूमिका निभाई, वह थी महावीर प्रसाद शर्मा की 'मेवाती का उद्भव एवं विकास'। हालांकि उससे पहले कविता-रूपी तुक्कों के अलावा छोटी-छोटी चीज़ें लिखनी ज़रूर शुरू कर दी थीं। लेकिन अपने कॉलेज (यासीन मेव डिग्री कॉलेज) के पुस्तकालय में मिली। मेवात को समझने में इस पुस्तक ने मेरी समझ को काफ़ी परिपक्व बनाया। मेवात के ऐतिहासिक संदर्भों और सांस्कृतिक-साहित्यिक जानकारियों ने पहली बार महसूस कराया कि कितनी निर्मम सच्चाइयाँ छिपी हुई हैं।

1981 में दिल्ली आने तक यदि ईमानदारी से कहूँ तो दूसरी कल्पना करना मुश्किल था कि सचमुच मुझे एक लेखक के रूप में, वह भी अपने बूते पर ऐसी स्वीकार्यता मिलेगी। 1984 के दौरान हिंदी-कथाकार धर्मेंद्र गुप्त के साथ कॉफ़ी हाउस आना, लेखक बनने की राह में पहला टर्निंग पॉइट था। कनाट प्लेस स्थित मोहन पैलेस की ऊपर जाती सीढ़ियों में पता नहीं ऐसा क्या था कि जैसे-जैसे सीढ़ियां पार करता खुले में कॉफ़ी हाउस पहुँचता। आसपास का दृश्य मानो आह्वान सा करता। न जाने यह महज संयोग था या एक अनचाहे में उठाया गया कदम कि एक सजग पाठक की हैसियत से दिल्ली में आकर जो सबसे पहला उपन्यास पढ़ा वह था राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव'। यह बात अलग है कि शुरुआत के लगभग दस-बारह पृष्ठों को पढ़ने और पढ़ने के बाद समझने में हालत ख़राब हो गई। लेकिन जैसे ही उपन्यास का मुहावरा समझ में आने लगा, वैसे ही लगने लगा यह उपन्यास पूर्वी उत्तर प्रदेश के गंगौली का नहीं मेरे अपने मेवात की कहानी है। बाद में हालत यह हो गई कि मुझे नागरीय या शहरी पात्रों के उपन्यास अच्छे नहीं लगते। इसलिए 'आधा गाँव' के बाद 'काला जल', 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया', 'राग दरबारी', 'मैला आँचल', 'गोदान' और बाद में 'डूब' जैसे उपन्यास ने ऐसा मानस तैयार किया कि जिस मेवात को मैं सांस्कृतिक दृष्टि से निरा बंजर समझे हुआ था, इन उपन्यासों को पढ़कर लगा कि शायद ऐसे क्षेत्रों या अंचलों में ही हमारे असली चरित्र और पात्र छिपे हुए हैं। लेकिन प्रश्न यह था कि उपन्यास मेवात की पृष्ठभूमि के आधार पर क्यों लिखा जाए? हालांकि 1990 तक आते-आते इसका ख़ाका दिमाग़ में बनने लगा था और 1992 में राम जन्मभूमि-बाबरी मस्ज़िद के विध्वंस ने जैसे उपन्यास की ज़मीन तैयार कर दी। 'काला पहाड़' (1999) सच कहूँ तो 'आधा गाँव' से प्रेरित होकर ही लिखा गया उपन्यास है।

यह स्वीकार करने में मुझे कोई झिझक नहीं है कि कथा-साहित्य की अपेक्षा मेरी कोशिश समाज विज्ञान संबंधी पुस्तकों को पढ़ने की रहती है। इस क्रम में मेरी आज भी सबसे प्रिय पुस्तक 'यादों से रचा गाँव' और एम.एन. श्रीनिवास की ही दूसरी पुस्तक 'आधुनिक भारत में जाति' रही है। इसके अलावा विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े की 'भारतीय विवाह संस्था का इतिहास', 'बाबरनामा', 'मुगल सम्राट बाबर' (बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी), 'संस्कृति के चार अध्याय' भी मेरी प्रिय पुस्तक इस मायने में रही हैं कि किसी भी रचनात्मक लेखन के लिए साहित्येतर लेखन कहीं ज्यादा खुराक का काम करता है। इनके अलावा यदि मैं दो पुस्तकों का उल्लेख न करुँ तो शायद मेरी बात अधूरी रहेगी। एक है प्रो. मैनेजर पांडे की 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' और दूसरी है वीरभारत तलवार की 'रस्साकशी'। मैनेज़र पांडे व वीर भारत तलवार की इन पुस्तकों के बारे में मेरा मानना है कि दो महत्वपूर्ण पुस्तकें, बेहद खराब जगह से प्रकाशित हुई हैं। एक, जहाँ साहित्य के समाजशास्त्र को समझने में अपनी बड़ी भूमिका निभाती है, तो दूसरी नवजागरण काल के स्याह पक्ष को समझने में हमारी समझ की खिड़कियों को खोलती हैं।

मैं अपने लेखन के लिए कच्चे माल के रूप में ऐसी-ऐसी विधाओं और अलग-अलग विषयों की पुस्तकों को पढ़ता हूँ जिनके बारे में

सोचना भी मुश्किल है। जैसे 'बाबुल तेरा देश में' को लिखते समय 'कुरान' या बहिश्ती ज़ेवर जैसे धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन ही नहीं किया अपितु हाथरस शैली की नौटंकियों के रचयिता और इन्दरमन के शिष्य पंडित नथाराम शर्मा गौड़ द्वारा रचित 'स्याहपोश उर्फ़ पाक मुहब्बत' का भी अध्ययन किया। अपनी लोककलाओं के प्रति मेरा शायद अनुराग यह है कि पंडित नथाराम शर्मा गौड़ द्वारा रचित 'भक्त पूरनमल' (पाँचों भाग), 'अमर सिंह राठौर' (दोनों भाग), 'रूप बसंत (तीनों भाग), 'इंदल हरण' (दोनों भाग), 'कल्लजान आलम उर्फ ख्वाबे हस्ती (तीनों भाग) के अलावा 'सुल्ताना डाकू उर्फ गरीबों का प्यार,' 'ऊदल का ब्याह उर्फ़ काठ का घोड़ा' 'हीर राँझा उर्फ़ अपने का आशिक' जैसी चर्चित, लोकप्रिय एवं कालजयी नौटंकियों की प्रतियाँ मेरे पास सुरक्षित हैं, जो आज लगभग नष्ट हो चुकी हैं। जैसाकि मैंने कहा कि मेरा लोक ही मेरा लिए मेरी सबसे बड़ी किताबें हैं और अपनी इस लोकरूपी किताब को समझने के लिए मैं इतिहास, समाज, संस्कृति तथा अपने पड़ोसी समाजों से संबंधित पुस्तकों का सहारा लेता हूँ। एक तरफ डी.डी. कोसांबी की 'प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता' ने मुझे अपने लोक को समझने में मदद की, तो दूसरी तरफ रामशरण शर्मा की 'पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति' ने मेरे नज़रिए को साफ करने में मदद की है। एक तरफ 'भारतीय संस्कृति' (शिवदत्त ज्ञानी) तथा 'मानव और संस्कृति' (श्यामा चरण दुबे) ने इसे और व्यापकता प्रदान की, तो दूसरी तरफ 'अंबेडकर ने मनुस्मृति क्यों जलाई' तथा संत. राम बी.ए. की 'हिन्दुत्व जो हिन्दुओं को ही ले डूबा' और 'जातिवाद का जनाजा' व 'हमारा समाज' ने भारतीय समाज के वर्णवादी व जातिगत अंतर्विरोधों और विरोधाभासों की गिरहों को सुलझाने में काफ़ी मदद की। किसी भी समाज को, भले ही वह अपना ही समाज क्यों न हो, देखने भर से नहीं समझा जा सकता। उसे समझने के लिए उसके अतीत को समझना बेहद ज़रूरी है। 'काला पहाड़', 'बाबुल तेरे देश में' और 'रेन' के अलावा मेरे चौथे उपन्यास 'नरक मसीहा' को लिखने से पूर्व इन उपन्यासों के समाजों को समझने के लिए इसी अतीत में झाँकने की कोशिश की। उसमें झरोखों के रूप में 'मुरक्का-ए-मेवात', 'संयुक्त प्राप्त की अपराधी जातियाँ' जैसी अनुपलब्ध अपितु दुर्लभ पुस्तकों का सहारा लिया।

किसी भी लेखक की सबसे बड़ी थाती होती है उसकी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता। पाठकों की स्वीकार्यता भी इन्हीं पर आधारित होती है। मैं जानता हूँ कि एक लेखक के रूप में भले ही हमारा हिंदी का अघाया सवर्णवादी तथाकथित अभिजन वर्ग मुझे स्वीकार न करें, परंतु हमारे दूर-दराज के छोटे शहरों, कस्बों, गाँवों और नगरों में बैठे सुधीजनों की स्वीकार्यता कहीं ज़्यादा बड़ी है। अगर ऐसा नहीं होता तो लगभग डेढ़ दशक पहले प्रकाशित पहले उपन्यास 'काला पहाड़' (1990) की गमक अभी तक गूँज नहीं रही होती। यह इसी स्वीकार्यता का प्रमाण है कि 'बाबुल तेरा देश में' (2005) तथा 'रेत' (2008) इसी सवर्णवादी चौहद्दी का अतिक्रमण कर पाठकों के मन में अपनी जगह बनाए हुए है।

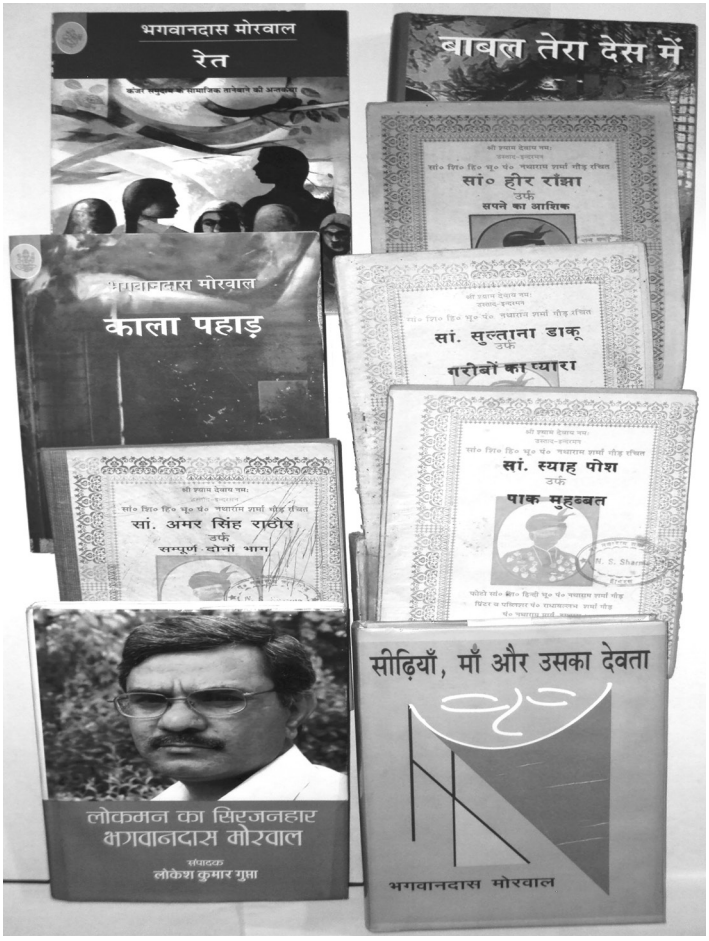

पुस्तकों के मामले में मेरी अपनी कुछ निजी धारणाएँ हैं। आज कितनी संख्या में पुस्तकें आ रही हैं, जरूरी नहीं वे सब पढ़ी जाएँ। चूँकि लेखन एक पूर्णकालिक कर्म है ऐसे में एक अंशकालिक लेखक से यह उम्मीद की जाए कि वह अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़े, न व्यावहारिक है, न संभव है। वह भी ऐसे में जब दिन के दस घंटे आपके घर-परिवार चलाने के जुगाड़ में जाया हो जाएं। अब यदि कोई इसके लिए मेरी मजम्मत करता है तो इसमें मैं कुछ नहीं कर सकता। हाँ, एक लेखक के लिए अधिक से अधिक अध्ययन करना चाहिए, इस मैं स्वीकरता हूँ। और स्वीकारता हूँ कि चाहते हुए भी ऐसी अनगिनत पुस्तकें हैं जिन्हें पढ़ना तो संभव नहीं है। हां उनका स्पर्श मात्र करने का बड़ा मन करता है। अगर यह भी संभव नहीं है तो सिवाय बंद आंखों में उनका स्मरण करना ही अपने आपमें उनको पा लेने जैसा है। पुस्तकों के प्रति मैं इतना भी ईमानदार हो लूँ, तो मैं इसे अपनी बड़ी उपलब्धि मानता हूँ। आज भी अपनी दुनिया को समझने के लिए पुस्तकों से अधिक रह-रहकर अपने 'लोक' में लौटता हूँ, और अपने संतों की तरह एक बेहतर दुनिया की कल्पना करता हूँ, क्योंकि हर लेखक अपने लोक का संत होता है। जो धूल और धूप के थपेड़े सहते हुए अपने अनुभवों को कागज़ पर उकेरता है।

वैश्विक विमर्श और हम

विश्व-दर्पण में हिंदी आलोचना के अक्स को पकड़ने की एक कोशिश

■ विनोद शाही

आलोचना के आधुनिक काल से लेकर समसमय तक के विकास की वैश्विक रूपरेखा बनानी हो, तो वह कुछ इस प्रकार की हो सकती है।

पुनर्जागरण और ज्ञानोदय की पृष्ठभूमि में आधुनिक दौर का आलोचना-कर्म 'सिद्धांत' और 'विचारधारा' के आसपास केंद्रित नज़र आता है। सिद्धांत और उस तक ले जाने वाली विविध विचारधाराएं, अपनी अभिव्यक्ति के अंतर्गठन के लिये, 'विज्ञान' और 'दर्शन' की मदद लेती है। दर्शन स्वरूपतः 'द्वन्द्वात्मक' हो जाता है और इस द्वन्द्वात्मक्ता के दो रूप -हीगेलियन व मार्क्सवादी -दो राजनीति-सत्ताविमर्शों की शक्ल भी अख्तियार करते हैं। आलोचना भी, इसी तर्क पर, जनतांत्रिक और क्रांतिकारी विमर्शों में विभाजित होती नजर आती है।

फिर मुक्त बाजारवादी बहुराष्ट्रीयकरण के पीछे इसी 'आधुनिकता' के भीतर से - उत्तराधुनिक विमर्शों का एक सैलाब सा फूटता है। आलोचना में इससे 'विमर्श-बहुल' परिदृश्य जन्म लेता है। परंतु आलोचना की मुख्य विश्लेषण पद्धति व प्रतिक्रियाएं, साहित्य के 'भाषापाठों' पर केंद्रित होती नज़र आती हैं। लेखक पृष्ठभूमि में चला जाता है और भाषापाठ केंद्र में आते हुए आलोचना को 'पाठकवादी अर्थबहुलता' में अंतर्विभाजित ही नहीं, विखण्डित तक करने लगता है।

समय की व्याख्या या परिभाषा को बहुत से लोग भूमण्डलीकरण और वैश्विक वित्तीय या आवारा पूँजी की भूमिका से जोड़ कर देखने की कोशिश कर रहे हैं और बहुतों के लिए हमारा यह मौजूदा दौर मीडिया व इंटरनेट का दौर है, जो आलोचना को 'उत्तरआधुनिक विमर्शबहुल विखण्डन' से कुछ हद तक उतारने का प्रयास कर रहा है। अभी ये प्रक्रियाएं बहुत स्पष्ट तरीके से व्याख्यातित नहीं हुई है परंतु मोटे तौर पर हम इसे 'भाषापाठीय बहुलताओं के भीतर मौजूद जटिल लचीले अंतर्पाठीय अर्थ-संसार के रूप में समझने की कोशिश कर सकते हैं।

यानी हमारे समय की आलोचना को अगर वैश्विक संदर्भ में कोई बोध धारणा की तरह देखना समझना हो तो कह सकते हैं कि वह अंतरनुशासनात्मक सह-समन्वयी (इंटरडिसिप्लिनरी कंपोजिट) अर्थमीमा. ंसा जैसी कोई वस्तु है, जैसी कोई इंटरनेट पर किसी 'हब' पर चला जाये, तो वह समझ सकता है कि इस का क्या अर्थ है? या इस अंतर्पाठीय मानसिकता या संस्कृति से उसकी क्या मुराद है?

खैर, यह तो संक्षेप में हुई, पूरे वैश्विक परिदृश्य में आलोचना के अब तक के विकास के सफर की नक्शानवीसीं। परन्तु यहां सवाल, पूछने लायक सवाल, यह है कि इस वैश्विक विकास यात्रा के परिदृश्य में 'हम' कहां हैं?

अब हम हिन्दी आलोचना के अब तक के विकास के सफर का एक समांतर खाका बनाते हैं, ताकि उपर्युक्त वैश्विक संदर्भ में हम अपनी सीमाओं-उपलब्धियों का थोड़ा-बहुत आकलन कर पायें।

यहां पहली बात तो यही नज़र आती है कि हिन्दी में आलोचना-कर्म की शुरुआत ही आधुनिक काल से होती है।

यों, संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास हमारे यहां भक्तिकाल के समय तक होता रहा, परन्तु उसके केंद्र में 'संस्कृत' थी, हिंदी नहीं।

दूसरे, भक्ति के जो आचार्यगण थे, वे 'दार्शनिक' सवालों का 'भक्ति मूलक व वेदान्तिक आध्यात्मीकरण' ही ज्यादा कर रहे थे, न कि उनका इस्तेमाल साहित्य-चिंतन के विकास के लिये करने का किंचित भी प्रयास उनकी ओर से किया जा रहा था।

तीसरे, हिंदी को 'हिंदी' की शक्ल देने वाले जो सूफी कवि 'देशी भाषा' में जिस साहित्य की रचना कर रहे थे- उसके आधार के रुप में वे अरबी-फारसी के काव्यशास्त्र को भी अपने साथ यहां लाये थे और ऐसे 'शास्त्रीय कर्म' में उनकी दिलचस्पी भी थी। परन्तु उनका वह सारा काम अरबी, फारसी में हो रहा था, न कि हिंदी में, जिसमें वे साहित्य की रचना कर रहे थे।

यानी भक्तिकाल तक हो यह रहा था कि शास्त्र या तो संस्कृत में था या अरबी-फारसी में; और साहित्य हिंदी की ओर रुख करके चलने का प्रयास कर रहा था।

भक्तिकाल के आचार्यों के द्वारा साहित्य-चितंन

वरिष्ठ आलोचक। कई किताबें प्रकाशित। वैश्विक स्तर पर चल रहे विभिन्न विमर्शों में गहरी दिलचस्पी।
संपर्क : 09814658098
ईमेल : drvinodshai @gmail.com

को दर्शन से अलहदा करने के बड़े दुष्परिणाम हुए। दर्शन को अलहदा किये बिना भक्ति की अतर्क्य अंतर्वस्तु की प्रतिष्ठा यों भी संभव नहीं थी। यह उस समय की जरूरत थी कि राम-कृष्ण-भक्ति को साहित्य का रूप प्रदान कर, इस प्रकार से 'जनसुलभ' बनाया जाये कि 'साहित्य' और 'धर्म' के बीच का फासला दिखायी ही न दे- तो इससे यह तो हो सकता है कि भक्ति-साहित्यकारों के पीछे कई 'पंथ', संप्रदाय और यहां तक कि धर्म तक चल निकले, परन्तु इससे उनके साहित्य के 'साहित्य' के रुप में मूल्यांकन में रूकावट आ गयी। मूल मूल्यांकन के रास्ते में साहित्येतर मूल्य - यानी पंथों और धर्मों की मान्यताएं व स्थापनाएं आ कर खड़ी हो गयी। उन्हें ही साहित्य -चिंतन 'शास्त्र' का दर्जा देने से, हिंदी में उसके अपने मौलिक आलोचना शास्त्र के जन्म की संभावनाएं अवरुद्ध हो गयी।

नतीजतन रीतिकाल में शास्त्र का 'पुनरुत्थान' भर संभव हो सका, यह सवाल अक्सर पूछा जाता है कि रीतिकाल में इतने साहित्याचार्य हुए, पर साहित्य के मौलिक सिद्धान्त के रूप में लगभग शून्य व अभाव की स्थिति रही, ऐसा क्यों हुआ? जवाब नहीं दिय जा सकता है, क्योंकि भक्ति के आचार्यों के द्वारा की गयी गड़बड पर उंगली रखने का साहस कोई नहीं करता है- खासतौर पर साहित्येतर कारण में से यानी पंथों-संप्रदायों-धर्म के आग्रहों की चुनौती न देने की यथास्थितिवादी जन मानसिकता की वजह से कोई ऐसा करना चाह कर भी नहीं करता या कह पाता है।

आधुनिक काल में प्रवेश करते ही हिंदी आलोचना के सामने दो चुनौतियां उपस्थित हो जाती हैं, पहली यह कि रीतिकालीन शास्त्रीय पुनरुत्थान से पीछा छुड़ा कर, संस्कृति काव्यशास्त्र पर हिंदी की स्थिति, प्रकृति के मुताबिक मौलिक चिंतन किया जाये। दूसरी चुनौती पचिमी आलोचना परिदृश्य की होती है, जिसका जिक्र आलेख के आरंभ में किया गया है। चुनौती यह है कि कैसे पश्चिम के अंधानुकरण से बनते हुए अपने लिये विकास का कोई रास्ता बनाया जाये? हिंदी में रामचंद्र शुक्ल पहले आलोचक हैं, जो इन दिनों चुनौतियों के प्रति सजग होकर आलोचना-चिंतन करते हैं।

आरंभ में बताया गया है कि आधुनिक आलोचना का वैश्विक परिदृश्य द्वन्द्वात्मक दर्शनों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ साहित्य में विचारधारा और सिद्धांत तय करने का तथा उनके आधार पर साहित्य की व्याख्या-मूल्यांकन करने का प्रयास कर रहा था।

रामचंद्र शुक्ल ने इसे आलोचना के 'बोध जगत' का नाम दिया और रस-सिद्धान्त के हिंदी के मुताबिक नवविकास को 'लोकहृदय के विकास-विस्तार' की व्याख्या का आधार मान कर भी, 'आधुनिक बोध से पिछडता हुआ पाया'।

रामचंद्र शुक्ल की बात को ठीक से समझा जाता तो बाद की आलोचना अपने रस सिद्धांत का; अथवा अन्य सिद्धांतों का, द्वन्द्वात्मक दर्शनों की मदद से वैज्ञानिक अंतर्विकास करता और उसे हिंदी की स्थिति-प्रकृति, दशा-दिशा के मुताबिक ढ़ाल कर 'हिंदी आलोचना का एक अपना व्यक्तित्व' प्रदान करती।

परंतु हुआ यह कि पश्चिम ज्ञान-विज्ञान दर्शन के विमर्शों और विचारधाराओं को, वहां से आयातित करके, हिंदी आलोचना ने यों 'दिखावा' करना आरंभ कर दिया, जैसे 'वैश्विक दर्शन और आलोचना' सारी दुनिया के सांझे दर्शन और आलोचना का पर्याय होती हों। जैसाकि 'पश्चिम' और 'वैश्विक' में कोई फर्क ही न हो लेकिन कठोर क्रूर सच्चाई यह है कि वैश्विकता एक 'साझा संदर्भकोश' भर होता है, जो हर देश, जाति, समाज, जनसमूह के जमीनी हालात के मुताबिक, ठोस और एक हद तक मौलिक तरीके की नव-अभिव्यक्ति पाया करती है। तभी 'वैश्विकता', विकास-भूमि बनती है; अन्यथा, जैसा हिंदी आलोचना में हुआ, वह 'आरोपण' और 'परजीविता' का उदाहरण हो जाती है।

इसे हम हिंदी आलोचना को, आज़ादी के बाद का, नव-औपनिवेशीकरण कह सकते हैं, जो अभी तक जारी है।

और मजे की बात यह है कि हमारी इस नव-औपनिवेशीकृत हिंदी आलोचना ने अपनी विफलता को छिपाने के लिए एक बड़ा दिलचस्प तर्क खोज लिया है हमारे यहां जब भी 'अपनी आलोचना' या 'अपनी सैद्धांतिकी' के अभाव की चर्चा चलती है तो हमारे 'महान' हो गये आलोचक कहते हैं कि हमारी आलोचना भले ही कुछ पिछड़ी हुई मालूम पड़ सकती है, पर हमारी सृजनशीलता अवश्य 'वैश्विक स्तर या कोटि' की है। यह एक भ्रामक दलील है जो बहानेबाजी से ज्यादा कुछ अर्थ नहीं रखती। क्योंकि सत्य तो यही है कि विकास 'टुकड़ों' में नहीं हुआ करता।

तब हम क्या करें कैसे होगा यह कि एक दिन हमें हिंदी आलोचना भी अपने पैरों पर स्वंय अपने बूते खड़ी होती दिखायी दे सकेगी? इसके लिये कुछ प्रचलित आलोचना पद्धतियों पर एक नव-मूल्यांकनधर्मी निगाह डालना जरूरी लगता है।

हिंदी आलोचना को रामचंद्र शुक्ल ने द्वन्द्वात्मक दर्शन वाला आधार प्रदान करने का प्रयास किया था और कोशिश यह भी थी कि रस सिद्धांत में जो आलम्बन केंद्रित हो जाने की स्थिति पसर गयी थी, उससे उसे थोड़ा मुक्त कराया जायें, तो, एक सिद्धांत होने का प्रयास करती धारणा सामने आयी थी। आलम्बन की बजाय आलम्बनत्व धर्म पर जोर देने का प्रयास किया गया था। इसका मतलब साफ था। नायक केंद्रित रस सिद्धांत, उच्चवर्गीय विचारधारा का सिद्धांत मालूम पड़ता था। 'आलम्बनत्व-धर्म' की बात उठाकर शुक्ल जी उसे उच्चवर्ग केंद्रित मुख्यधारा की संस्कृति तक ले जाने की कोशिश कर रहे थे। बात 'संस्कृति विमर्श' में बदल जाती, तो 'हिंदी' या 'भारत' की मुख्यधारा की संस्कृति के आधार को हमारा साहित्य आलम्बनत्व धर्म की तरह देखने की कोशिश कर सकता था। यह सोच द्वन्द्वात्मक सोच थी; परन्तु हीगेलियन इसके केंद्र में था। 'आदर्श' के 'मूल्य' जो मुख्यधारा की संस्कृति का सार थे, उनसे साहित्य को संचालित करना था। वह जो 'लोकमंगल' था - वह सार था। पर उसकी जड़ें नायिक उच्चवर्ग की मानसिकता में थे। वह 'ऊपर' से 'नीचे' आने वाली मानसिकता का सिद्धांत था।

शुक्ल जी के बाद की हिंदी आलोचना में सिद्धान्त या अवधारणाओं की इस 'द्वन्द्वात्मकता' की और किसी ने ध्यान नहीं दिया, इसलिये सारे विवेचन पराये पश्चिमी विमर्शों का परजीवी आरोपण हो गये। हमारी जमीन की धारणाओं- सिद्धान्तों से; यानी संस्कृत या अरबी-फारसी वाले काव्यशास्त्र से; उनका कोई रिश्ता ही जैसे दिखायी देना बंद हो गया था। नतीजन वे विवेचन साहित्य

■ *मुरलीदास पी.वी.का वुडकट*

की व्याख्या के लिये भी बहुत दूर तक जाने वाले सिद्ध नहीं हो सके।

नगेंद्र पश्चिमी मनोविश्लेषण को ले आये और 'रस के संगीत के साधारणीकरण' की हवाई बात हमारे सामने रख दी।

इसके 'सर्वांग' का साधारणीकरण - एक क्रांतिकारी धारणा हो सकती थी; बशर्ते वह हमारे समाज के 'सर्वांग' के अभ्युदय मूलक रूपांतर की उपज होती। अगर यह धारणा जमीन से उपजी होती, तो हमारे पास अपनी सृजनशीलता के सर्वांग के महान अभिव्यक्ति-रूप प्रकट हो गये होते। परन्तु 'ज्ञान' की धारणाएं, जब 'द्वन्द्वात्मक' आधार वाली न होकर हवाई होती है, तो वे निरी अकादमिक बहस से ज्यादा कोई अर्थ नहीं रखती।

यही स्थिति हमारी मार्क्सवादी आलोचना की भी रही। हालांकि वहां इस द्वन्द्वात्मकता के प्रति 'प्रतिबद्धता' के दावे में ही शुरूआत और उन्हीं के साथ अंत होता था। परन्तु साहित्य की सृजनशीलता की व्याख्या करने वाला एक भी 'सर्वहारा - केंद्रित' सिद्धान्त हमारे यहां की जमीन की उपज की तरह हमारे यहां प्रकट नहीं हो सका।

इसके लिए जरूरी था - 'इतिहास-बोध', जिसके विकास के लिये हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने ज्यादा काम नहीं किया। केवल उथले निष्कर्षों के आधार पर यह आलोचना 'कबीर' और 'तुलसी' केंद्रित खंडों में विभाजित हो कर रह गयी। द्वन्द्वात्मकता के नाम पर 'विकल्प' की - 'दूसरे' या 'तीसरे' विकल्प की खोज करके, उसकी 'परंपरा' में इतिहास-बोध को खोजा जाता रहा। ज्यादा गड़बड़ हुई, संस्कृति को समझने के मामले में पश्चिम की तरह हमारे यहां 'धर्म' और 'ईश्वर' की कोटियां, अनिवार्यत : अमूर्त, जनविरोधी और सत्ताप्रेरित प्रतीकीकरणों का पर्याय ही नहीं थी; क्योंकि हमारे यहां 'सामाजिक क्रांतियों' के अभाव की स्थिति की क्षतिपूर्ति 'सांस्कृतिक क्रांतियों' के द्वारा होती रही है। इससे सत्ता की मानसिकता पर 'सारतः मानवीय' होने - दिखने का दबाव, भारत में अक्सर गहराता - छीजता अपना अलग तरह का 'इतिहास बनाता सामने आता रहा है। इस बात को देखा जाता तो हमें 'अपने दर्शनों' में ही अपनी खास तरह की द्वन्द्वात्मकता के स्रोत मिल सकते थे। परन्तु ज्यादा गहरे में न जाने के कारण हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना ने चार्वाकों के साथ खड़े होकर, ज्यादा प्रगतिधर्मी चेतना वाले सांख्य योग और न्याय के दर्शनों को बदस्तूर पृष्ठभूमि में बनाये रखा।

इसमें नुकसान यह हुआ कि हिंदी आलोचना में अभी तक अपने ही रस-दर्शन के सही मूल्यांकन तक के हालात नहीं पैदा हो सके। भरत और लोल्लट की लोक में गहरी जड़ें थीं। वे न्याय और आयुर्वेद समर्पित योग के लोग थे। बाद में अभिनव व गुप्त तक आते - आते आदर्शवाद और संभ्रान्त या उच्चवर्गीय मानसिकता वाले वेदान्त की जड़े हमारे 'साहित्य चिंतन' में मजबूत हो गयी थी, तो उसका विरोध होना चाहिये था। और अपनी लोकधर्मी जमीन का जनधर्मी नवविकास किया जाना चाहिये था - जिसके लिये अब हमारे पास 'द्वन्द्वात्मक नजरिये' भी मौजूद था।

परन्तु हिंदी आलोचना में आरोपित परजीविता की कुंठा की मानसिकता से पैदा गतिरोध आज तक जारी है- इसके चलते अब तो हम ज़्यादा जनधर्मी 'लोकरीतियों' की तथा बौद्ध दर्शन से आये 'औचित्य' तक की बात नहीं करते हैं; रस तो यों भी काफी अर्से से बहिष्कृत हो चुका है।

उत्तराधुनिक अंतरनुशासनात्मक नवविकास तक को समेटने की पूरी अंतः संभावनाएं हैं; उस और तो हम देख ही सकते हैं। और फूको के उत्तर-आधुनिक साहित्य-चिंतन में मानवदेह-केंद्रित जमीन में लौटते हुए, हिंदी आलोचना के अपने जमीनी सिद्धान्तों के नवविकास की संभावनाओं को नये रूपों में खोजना आरंभ कर सकते हैं।

समीक्षा
डायरी

कई समयों की गूँज

■ ज्ञान प्रकाश विवेक

यह डायरी 'दिन-रैन' ग़ैरमामूली डायरी है। यह एक अति पिछड़े, अशिक्षित देहात में जन्में और गोरखपुर में मुक़ीम हुए ऐसे अदीब की तख़्लीक है, जो सादगी के रास्ते होते हुए, साहित्य अकादमी जैसे सर्वोच्च साहित्यिक संस्था का अध्यक्ष बनता है।

लेकिन यह सोचना कि डायरी एक कवि, आलोचक और कथाकार विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के, साहित्य अकादमी में अध्यक्ष बनने तक का सफ़रनामा है, तो यह सरासर ग़लत होगा। डायरी लिखने की शुरूआत 1968-1969 से होती है और इस वक़्त, डायरी लिखते हुए डॉ. तिवारी ने सोचा ही नहीं होगा कि वो अकादमी के अध्यक्ष पद तक पहुँचेंगे। वो इस बात का ज़िक्र भी इस बीच कई बार करते हैं कि वो लगभग अपरिचित से कवि हैं। दरहक़ीकत, साहित्यिक जगत से अपरिचय डायरी लेखन का सबसे बड़ा परिचय है। डायरी के पन्नों पर वो समय से, हिन्दी अदब से और अपने आपसे हमकलम होते हैं।

दिन रैन (डायरी)
विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली
मूल्य : 395/

डायरी में एक कवि, एक आलोचक और एक चिंतक के सरोकारों, विचारों, छंद और मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति है। यहां चिंतन की भी दो अवस्थाएं हैं-समाज चिंतन और आत्म चिंतन। और समय!....समय को घड़ी की सुइयों से बाहर निकालकर डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी उससे रू-ब-रू होते हैं। तब, ऐसा लगता है दो मुसाफ़िर हैं। एक ही यात्रा के दो मुसाफ़िर। एक, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दूसरा - समय। शायद इसलिए, इस डायरी में समय की गूंज सबसे ज्यादा है।

यह डायरी ग़ैर मामूली इसलिए भी है। कि यहां विन्रमता से व्यक्त किया गया है। यहां न बौद्धिक लफ़्फ़ाज़ियां है न किसी के चरित्रहीनन की कोशिश। यहां वो शगूफ़ेबाज़ी भी नहीं जो सनसनी फ़ैलाकर, रातोंरात चर्चा में ला खड़ा करती है। यह उस रचनाकार की डायरी है जो 1968 से इसे लिखना शुरू करते हैं। उस दौर में, डायरी लिखते वक़्त डॉ. तिवारी ने कभी सोचा ही नहीं होगा कि यह डायरी कभी किताब की शक्ल भी अख़्तियार करेगी। और यही वज़ह है कि डायरी में सहज़ता है सरलता है, सादगी है और सलाहियत है। यह डायरी एक तरह से ऐसा समय-संवाद है जो कमोबेश 2013 तक जारी रहता है।

बहरहाल, 'दिन रैन' नाम से प्रकाशित इस डायरी का एहतराम इसलिए भी ज़रूरी है कि इसमें पैंतीस-चालीस वर्षों का वक़्त, अपनी चहलक़दमी के साथ मौजूद है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अपनी डायरी में बहुत सारी आवाज़ों को भी जगह देते हैं। लेकिन बड़ी सलाहियत से उन आवाज़ों को अल्फ़ाज की ख़ामोशी में छुपा लेते हैं। इस पर्दादारी से जहां बहुत सारी चीजें मानीख़ेज हो गई हैं, वहां डायरी का रूतबा भी बढ़ गया है।

'दिन रैन' डायरी को पढ़ते हुए ऐसा भी महसूस होता है, जब शाम का सूरज सीढ़ियाँ उतर रहा होता है, ऐन उस वक़्त, कोई विचार सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ डायरी तक चला आता है। बेशक, डायरी में ढलते सूरजों की विदाई नहीं, दिनभर के हंगामाख़ेज रोज़नामचे के बीच, एक कवि का, एक पृष्ठ पर, समय को तहरीर करना भी है। इन तहरीरों में निजता किसी अनिवार्य हस्तक्षेप की तरह है।

ऐसा भी लगता है कि होटलों के कमरों में, यात्राओं में या बड़े शहरों में विश्वनाथ प्रसाद किसी कशमकश में भी रहते हैं। यहां पद के वैभव का स्वीकार है तो व्यर्थता का बोध भी, जो ख़ला पैदा करता है और ख़लिश भी।

पांच तारा होटलों की चकाचौंध और प्रशंसाओं के नख़्लिस्तान से बेपरवाह एक सादा लौह अदीब न खुशफ़हम होता है न मुग्ध! यही निरपेक्षता का भाव अन्य रचनाकारों के साथ भी है। तिवारी जी पूरी डायरी में न किसी को गिराते हैं न अपने लिए कोई शिखर तलाश करते हैं। बेशक, संकेतों में वो बहुत कुछ व्यक्त भी करते हैं। साहित्य में, वो किसी के साथ सांप सीढ़ी का खेल नहीं खेलते। जबकि उनके साथ यह खेल खेला जाता रहा (साहित्य अकादमी के अध्यक्ष पद के चुनाव के समय)

गज़ल और कहानियां लिखने के साथ-साथ आलोचना में भी सार्थक दख़ल
संपर्क : 09813491654
ईमेल : gyanpvivek@gmail.com

डायरी के बिल्कुल आख़िर में जब वो लिखते हैं - ज़िंदगी का मक़सद कर्म है और फल स्वयं कर्म तक आता है ऐसा प्रतीत होता है जैसे यही एक वाक्य पूरी डायरी का सूत्र हो। यह एक पंक्ति, डायरी लेखक के मन की न सिर्फ़ कैफियत को बयान करती है, डायरी का मक़सद भी साफ करती है।

डायरी बेशक किसी गुज़िश्ता को बयान करने की एक ऐसी विधा है जो हिंदी साहित्य में अभी तक कोई पहचान नहीं बना पाई। इसलिए डायरी लिखने वाले लेखक बहुत कम हुए। डायरी, उपन्यास, कहानी, संस्मरण से बिल्कुल भिन्न विधा है, जिसमें रचनाकार सालों-साल डायरी लिखते हुए न केवल निजी संसार को रचता है, बल्कि रोज़ाना सामने खड़े वक़्त का संज्ञान भी लेता है। डायरी एक तरह से वैचारिक पुख़्तगी और असीम धैर्य का इम्तेहान भी होती है। चूंकि अधिकांश अदीब, डायरी लेखन कहीं बीच में छोड़ देते हैं। हिंदी साहित्य में संभवतः ऐसा ही हुआ है। इसलिए, डायरी केंद्रित बहुत कम किताबें आई हैं। शायद यही वजह है कि बहुत तप, ताप, परिश्रम और एकाग्र लेखन के बावजूद डायरी लेखन को हिंदी में बतौर सिन्फ़ (विधा) मक़बूलियत नहीं मिली।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की डायरी किताब 'दिन रैन' में करीब चालीस वर्षों का समय अपनी थरथराहट, व्याकुलता और बदलाव के अनेक संकेत देता है। यह डॉ. तिवारी की मिलनसारिता है। सादगी का जश्न है। बड़ी बात यह है कि अपनी पसंद-नापसंद को उन्होंने डायरी में हावी नहीं होने दिया।

डायरी में, बेहद लम्बे कालखण्ड का ठिकाना है और इसे पढ़ते हुए यूं महसूस होता है जैसे कि क़िस्सागो ने 1968 से 2013 का अहवाल, सांस लेते अल्फ़ाज़ में दर्ज किया हो।

डायरी का अंत 'कर्म' जैसे भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति से होता है तो डायरी का आरंभ भी एक गंभीर चिंतक की टिप्पणी से होता है-'कर्मकाण्ड का होना, धर्म की पराजय है'।

25 मई, 1969 का डायरी पृष्ठ डायरी लेखक की गहरी संवेदना और सरोकार का पता देता है। स्मृति आख़्यान भी शायद इसी तरह रचे जाते हैं। आज वो अनजान और अतिसाधारण मनुष्य पाठकों को याद आने लगता है तो इसलिए कि डायरी में उसके दुख को तहरीर करके स्मृतियों में ज़िंदा किया गया। पता नहीं, अब वो शख़्स होगा या नहीं, लेकिन डायरी में उस शख़्श की संघर्ष गाथा ज़िंदा है। घटना यूं है - गोरखपुर में एक शख़्स विश्वनाथ प्रसाद तिवारी से जयपुर का रास्ता पूछता है तो तिवारी उसे रेलगाड़ियों के बारे में बताते हैं। लेकिन वो कहता है कि उसके पास पैसे नहीं हैं और पैदल ही जाना है। वो अपनी पत्नी और बच्चे के साथ खड़ा है। वो भोपाल से आया है जहाँ ठेकेदार ने उसकी मज़दूरी नहीं दी। वो जयपुर तक जाएगा। दीनता जो दरिद्रता से पैदा हुई है, उसके चेहरे पर है। और जो कष्ट से उपजी तड़प है वो किसी अनाम रास्ते से यात्रा करती हुई डायरी लेखक तक चलती आई है। पूरी घटना किसी रूपक की तरह है जो भारत के अनेक-अनेक ग़रीब लोगों की छायाओं को समेटे हुए हैं। अमूमन, डायरी में ज़िंदगी के जश्न और सफल-असफल प्रेम कथाओं के चर्चा होते हैं। यहां उस बेहद मुफ़लिस शख़्स का ज़िक्र है जो जयपुर तक पैदल जाने का विचार बना चुका है।

बीस जून 1969, रेल की भीषण दुर्घटना। सैकड़ों लोग घायल। कईयों की मौत। लेकिन विश्वनाथ तिवारी बच गए। 20 जून का दिन उनका जन्मदिन भी था। मौत उनके जन्मदिन के सिरहाने खड़ी रही। वो दबेपांव आई। लेकिन बे-आवाज़ वापिस लौट गई। लेकिन मृत्युबोध छोड़ गई। यहां शब्दों के पसः मंज़र मौत का भय दिखाई देता है और वो इसे छुपाते भी नहीं। बल्कि 1969 से 1975 के बीच, जीवन-मृत्यु जैसे छंद की अभिव्यक्ति है। मृत्यु के बोध से टकराते हुए एक बड़ा अदीब, महज ख़ौफ़ पैदा नहीं करता, जीवन-राग को भी जन्म देता है- और वो यहां है।

मौलिकता की बहस को भी वो डायरी में दर्ज करते हैं और ऐसी जगहों पर वो कुछ सूत्र वाक्यों से अपनी बात को अर्थवान बनाते हैं-ऑल ओरिजनैलिटी इज़ एन अनडेस्टेड थेफ़्ट (मौलिकता एक अनपहचाना अनुकरण है) फिर वो ख़ुद कहते हैं- हम जिसे नया कहते हैं, वो पहले से विद्यमान है।

डायरी में राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर भी तबसरा है। बंगला देश का निर्माण, इमरजेंसी, आप्रेशन ब्लू स्टार, थ्येनआनमन चौक पर प्रतिवाद को क्रूरता से कुचलने की तानाशाही पर भी वो बेबाक और बैलौस ढंग से अपने विचार व्यक्त करते हैं।

बहुत सारी गोष्ठियों का भी ज़िक्र है- जो महज़ 'रपट-टाइप' नहीं। बल्कि छोटी-छोटी बातों से, विचारों से, वो गोष्ठियों पर तबसरा करते हैं। जैसे फ़िराक़ पर वो बड़े सलीके से अदबी हलचल को तहरीर करते हैं तो फ़िराक़ गोरखपुरी के व्याख्यान की एक पंक्ति देकर फ़िराक़ की अज़मत को और बुलंद कर देते हैं- ''हम दुनियाभर की चीजों को देखते हैं। मगर यह नहीं देखते कि एक पत्ती अपना सिर कैसे उठाती है।'' इसी एक पंक्ति से अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि फ़िराक़ कुदरत को किस अनुभव की आँख से देखते थे।

इसी तरह का संवेदना से भरपूर अनुभव तब भी होता है जब वो कवि शमशेर बहादुर सिंह से मिलते हैं - वे मधुर स्वभाव और सरल हृदय हैं। उन्होंने चाय के साथ केला खिलाया। वे साधारण-सा पैंट और कमीज़ पहने थे। पैंट एकाध जगह फटा भी था। (3 अप्रैल 1972)

यह उस दौर का ज़िक्र है जब डायरी लेखक की कोई ख़ास

पहचान नहीं थी। लेकिन शमशेर बहादुर तब भी विशिष्ट और हिंदी जगत में ख़्यात कवि थे। लेकिन वो नए कवि का ख़ैरक़दम कितने जज़्बे के साथ करते हैं। बिल्कुल यहीं यह बात भी ग़ौरतलब है कि उन्हें अपनी पोशाक की ज़्यादा चिंता नहीं। पैंट फटी हुई तो कोई बात नहीं-- मामूलीपन उन्हें असाधारण कवि बनाता है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी डायरी के एक पन्ने पर लिखते हैं-'एक लेखक की कुल जमा पूँजी उसकी स्मृति होती है।'-- डायरी का वर्तमान यहां स्मृत्तियों के रूप में मौजूद है। यह एक तख़्लीक है, जिसमें 35 या चालीस साल का समय अपनी हलचल के साथ मौजूद है। किताबों की चर्चा बेशक कम है। लेकिन कुछ बेहद महत्वपूर्ण किताबें - चेग्वेवारा की डायरी 'बोलीवियान डायरी' और सोल्ज़ेनित्सन की किताब- 'गुलाग द्वीप समूह' पर बेशक़ीमती तहरीरें हैं। स्टालिन युग के हौलनाक वाकयात और एक तानाशाह स्टालिन का अत्याचारी रवैया। ख़ौफ़ वहां किसी ठोस रूप में दिखाई देता है। यहां फिर एक घटना का ज़िक्र है जो तानाशाह के भय को रूपक में बदल देता है-- स्टालिन की प्रशंसा में तालियां बज रही हैं निरंतर। कोई नहीं रुकता। रुकने की पहल कौन करे। जो शख़्स तेरह मिनट बाद ताली बजाना बंद करता है। उसे दस साल कठोर कारावास की सज़ा होती है।

एक साहित्यिक घटना। बहुत सारी अन्य साहित्यिक घटनाओं और अदबी नशिस्तों के अतिरिक्त! 2 अक्तूबर 1978 को गोरखपुर जैसी जगह से दस्तावेज का प्रकाशन। जो अब तक जारी है। 'दिन रैन' डायरी पढ़ते हुए कई बार ऐसा भी लगता है जैसे विश्वनाथ प्रसाद तिवारी डायरी न लिख रहे हों, जीवन के अर्थ तलाश रहे हों। मृत्यु का भय और अमरत्व की आकांक्षा जैसी कशमकश भी जीवन का अर्थ तलाश करने वाले बेचैन चिंतक के मन में मौजूद रहती है। यह मृत्युबोध और जीवन के अर्थ या जीवन की लय की तलाश में मौत का बीहड़ शाना-ब-शाना खड़ा दिखाई देता है और इसलिए 23 फरवरी 1983 की डायरी का पन्ना को-रिलेट करता प्रतीत होता है। इस दिन, विश्वनाथ प्रसाद पचहत्तर दिन अस्पताल में दाखिल रहने के बाद घर लौटे हैं। फ़ीमर (कूल्हे के नीचे की) हड्डी टूट गई। यह वक़्त बेहद दुश्वारियों भरा रहा है। लेकिन वो इसकी तफ़्सील में नहीं जाते। दुख की छायाएं डायरी में बेशक हैं लेकिन छायाएं अंधेरे में नहीं बदलती। यह डायरी इस लिहाज़ से एक रौशन ख़्याल अदीब की ऐसी रचना है जिसमें सुख दुख के अपने-अपने ठिकाने हैं। लेकिन विचलन कहीं नहीं।

साहित्य अकादमी की अध्यक्षता से पूर्व भी विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का अनेक शहरों में आना जाना लगा रहा। कहीं गोष्ठियों की सदारत तो कहीं व्याख्यान। चुनांचे जिस-जिस शहर में वो गए, उन शहरों का 'शहरनामा' डायरी में स्वतः स्फूर्त चला आया है- 'दिल्ली, उज्जैन, धर्मशाला, कुरूक्षेत्र, हैदराबाद, जोधपुर, शिमला, भुवनेश्वर, कोलकाता, - शान्तिनिकेतन भोपाल' आदि शहरों पर संक्षिप्त लेकिन, जज़बाती अभिव्यक्तियाँ है। बीच-बीच में विनम्र कवि का चिंतक रूप तुर्श लहजा भी अख़्तियार करता है तो पता चलता है कि समाज के प्रति उनकी गहरी आस्था है। 20.2.1989 की ये पंक्तियाँ-सभी बंद व्याख्याएं एक दिन टूटेंगी। मनुष्य एक बंधन द्रोही प्राणी है। वो ज़ंजीरों के विरूद्ध संघर्ष करता है।

लेकिन डायरी में बहुत सारे प्रशंसकों की प्रशंसा कोई अर्थ नहीं रखती। सवाल पैदा करती है कि अचानक इतने सारे उनकी कविता के प्रशंसक कैसे पैदा हो गए? ख़ुद डॉ. तिवारी के मन में ऐसे सवाल उठते हैं। लेकिन प्रसंशा उन्हें अच्छी भी लगती है। निजी डायरी तक ये प्रशंसाएं रहती तो बेहतर होता। किताब छपने के दौरान इन्हें हटा दिया जाता तो डायरी का रूतबा बरकरार रहता।

डायरी 'बेहद' तक जाने का प्रयास प्रतीत होती है। ज़िंदगी के उस पार देखने की कोशिश -एक कवि के रूप में और एक दार्शनिक के रूप में भी महसूस होती हैं।

1964 में फतेहपुरी के एक मामूली होटल के मामूली कमरे में दिल्ली के तिलिस्म को महसूस करता हुआ एक नौजवान, गोरखपुर का कवि - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - अपरिचित अनजान और कवि के रूप में जिसकी कोई खास पहचान नहीं। वही कवि। इंडिया इंटरनेशनल का भव्य कमरा। केंद्रीय सहित्य अकादमी की अध्यक्षता का ऐलान। और कमरे में फूट-फूट कर रोते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी। जैसाकि यह रोना विरेचन हो या फिर यह रोना किसी अदृश्य शक्ति का आभार व्यक्त करना हो। मानो, रोते हुए वो कह रहे हों -तू है मुहीते -बेकरां, मैं जरा-सी आबे जू-इकबाल (तू अथाह समन्दर है और मैं जल की एक बून्द) दरहक़ीक़त, ये आंसू किसी बंदगी की तरह हैं। शिखर तक पहुंचने का न दम्भ न अभिमान! वही विनम्र भाव व्यास सम्मान के दौरान (10 मार्च-2011), वही अहसास और वहीं संवेदन लय जब वो साहित्य अकादमी की अध्यक्षता जैसा बेहद महत्वपूर्ण पद स्वीकार करते हैं। गौरतलब है, हिंदी भाषा में ऐसा पहली बार हुआ जब किसी को अध्यक्षता का गौरवशाली पद मिला-और वो डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी।

पूरी डायरी एक मुक़म्मल रचना की तरह है। यानी, एक ऐसी तख़्लीक जिसमें कई सारे समय, ज़िंदगी की लय पैदा करते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि जो सादगी का वैभव विश्वनाथ प्रसाद तिवारी में है-किसी जीवन शिल्प की तरह, वही सादगी का वैभव पूरी डायरी में है।

समीक्षा
विमर्श

इतिहास में जीवन

■ प्रेमपाल शर्मा

कौन कहता है कि अच्छी किताबें कम होती जा रही हैं। पिछले वर्षों से हर दो चार महीने के बाद ऐसी किताब हाथ लग जाती है जिसके निशान पूरी उम्र बने रहेंगे। यहां उन पुस्तकों की फेहरिस्त में जाने का अवसर नहीं है बस इतना कह सकता हूं कि रामचंद्र गुहा की किताब 'आखिरी उदारवादी' उतनी ही महत्वपूर्ण है। रामचंद्र गुहा की ख्याति इधर उभर कर आए प्रसिद्ध इतिहासकार के रुप में है। विशेषकर उनकी चर्चित कृति 'इंडिया आफ्टर गांधी' से। लेकिन इस किताब को पढ़ते हुए लगता है कि यदि वे मौजूद राजनीति और इतिहास के अपने मन पसंद चरित्रों पर जीवनी लिखे तो यह और भी रचनात्मक और ऐतिहासिक काम होगा। मौजूद पुस्तक में शामिल लेख तो यही साबित करते हैं।

पुस्तक का शीर्षक 'आखिरी उदारवादी' लेख प्रसिद्ध अर्थशास्त्री धर्मा कुमार पर है। धर्मा कुमार दिल्ली विश्वविद्यालय के दिल्ली स्कूल आफ इक्नोमिक्स में प्रोफेसर थीं। मूलतः तमिलवासी लेकिन लालन-पालन बंगलौर में हुआ और कार्य क्षेत्र बना दिल्ली। कुछ बचपन लाहौर और मुंबई में बीता। पिता मशहूर रसायन शास्त्री और प्राध्यापक थे। इस लेख के बहाने रामचंद्र गुहा सत्तर के दशक से लेकर धर्मा कुमार की 2001 में उनकी मृत्यु पर्यंत तक उनके सक्रिय बुद्धिजीवी रुप, कांग्रेस, वाम या दक्षिणपंथी विचारधाराओं के टकराव और उनके बीच धर्मा कुमार जैसे अर्थशास्त्री के उदारवादी नजरिए को बहुत खूबसूरती से उभारते हैं। उनकी साफगोई, उनके शोध से लेकर उनके घर जुटाने वाला बौद्धिक समुदाय। गुहा लिखते हैं 'धर्मा कुमार वैसे बुद्धि जीवियों से परेशान होती थीं, जो स्वतंत्र चिंतन नहीं करते थे और भेड़चाल की गिरफ्त में थे या किसी विशेष राजनीतिक दल के पिछलग्गू थे। विचारधारा की लक्ष्मण रेखा खींचने से उन्हें नफ़रत थी। उनका मानना था कि एक व्यक्ति को किन्हीं खास मुद्दों पर मतभेद रखना चाहिए और साथ ही अन्य सवालों पर एकमत भी होना चाहिए। लेकिन भारतीय बुद्धिजीवी रुढ़िवादी होते हैं और एक सांचे में ढले होते हैं।' (पृ. सं.176)

उस दौर की कई महत्वपूर्ण घटनाओं पर धर्मा कुमार के विचारों को गुहा इस लेख के माध्यम से सामने लाए हैं। आपातकाल की समाप्ति के बाद लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा के लिए बने नए नागरिक संगठनों का उन्होंने समर्थन किया। सलमान रुश्दी के उपन्यास 'सैटेनिक वर्सेज' को जब सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया, तब इस फैसले का सबसे पहले सार्वजनिक विरोध करने वालों में धर्मा एक थीं। उन्होंने कहा, 'प्रतिबंध सरकार की कमजोरी को प्रदर्शित करता है। एक धर्मनिरेपक्ष राष्ट्र में ईशनिंदा को संज्ञान लेने लायक अपराध नहीं माना जा सकता। भारत के राष्ट्रपति किसी एक या सभी धार्मिक विश्वासों के संरक्षक नहीं है।'

एक उदारवादी होने के नाते धर्मा ने सार्वजनिक संस्थाओं पर जाति तथा धर्म के प्रभाव को सीमित करने का प्रयास किया। दिल्ली स्कूल के अन्य विद्वानों की तरह धर्मा कुमार ने भी मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किए जाने का विरोध किया था। उनकी सोच थी कि पिछड़ी जातियों के लिए नौकरी में आरक्षण लागू करने पर अन्य लोग भी वैसे की मांग करेंगे। (पृ.-177-178) और इसी अंदाज में उन्होंने बाबरी मस्जिद के विध्वंश का भी विरोध किया। लेख का अंत होते-होते दिल्ली शहर का एक और क्रूर चेहरा उभरता है। कैंसर से जूझती हुई वे बिल्कुल अकेली पड़ गईं। दोस्त उनसे मिलने आते रहते थे, लेकिन उनकी संख्या अधिक नहीं होती थी। इस मायने में दिल्ली बौद्धिक समाज ने खुद को कलंकित किया। दर्जनों लोग, जो धर्मा के परिचित थे, जिनकी सहायता धर्मा ने की थी, जो धर्मा के अच्छे दिनों में उनसे बातचीत का मौका पाकर और उनका मेहमान बनकर खुश हो जाते थे, उन सब ने धर्मा को भुला दिया। उनमें बहुत सारे ऐसे थे जो अखबारों और जनसभाओं में विशाल उत्पीड़ित जनसमूहों के साथ खुद को जोड़ते थे और उनके प्रति चिंता जताते थे। (पृष्ठ-185) पूरा लेखा स्मृति और इतिहास में सने बेजोड़ गद्य का नमूना है।

राम गुहा अपनी ईमानदार अभिव्यक्ति के लिए मशहूर हैं। बिना किसी चिंता और आतंक के। पुस्तक में एक महत्वपूर्ण लेख जोसफ स्टालिन पर है। शीर्षक है 'इतिहास के सबसे बड़े अपराधी'। बहुत रोचक और जानकारियों से भरा। आप कहीं-कहीं दुराग्रह भी देख सकते हैं इसमें। भारतीय कम्युनिस्टों की

आखिरी उदारवादी
रामचंद्र गुहा
अनुवादः मनीष शाडिल्य
पेंगुइन बुक्स
मूल्य : 399/

समाज और शिक्षा के विमर्श में गहरी रूचि रखने वाले प्रेमपाल शर्मा दिल्ली में रहते हुए हर संभव सक्रिय बने रहते हैं। कई पुस्तकें प्रकाशित ।
संपर्क : 09717644643
ईमेल : prempalsharma@yahoo.com

खूब खबर ली है। यहां तक कि उन्होंने देश के प्रधानमंत्री नेहरु को भी नहीं बख्शा। स्टालिन की प्रशंसा करते हुए नेहरु ने न केवल स्टालिन की चालबाजियों की अनदेखी की थी बल्कि जनता के प्रति किये गये अपराधों को भी नज़र अंदाज कर दिया था। गुहा जिल्स नाम के राजनेता के हवाले से लिखते हैं कि ऐसा कोई अपराध नहीं था जो उनके हाथों हुआ न हो। हम किसी भी आधार पर उनका मूल्यांकन करें, इतिहास के सबसे बड़े अपराधी होने का तमगा उन्हें ही मिलेगा और उम्मीद की जा सकती है कि आने वाले समय में भी उन्हें कोई सबसे बेदखल नहीं करेगा। वे कालिगुला की तरह आपराधिक मनोवृत्ति, बोर्जिया की तरह चालाक और इवान द टेरिबल की तरह क्रूर थे। अगर हम इंसानियत और मानव-मुक्ति के नजरिए से देखें तो इतिहास में उनके जैसा कोई दूसरा क्रूर और स्वार्थी तानाशाह मिलना मुश्किल है। वे सिलसिलेवार ढंग से काम करते थे, सब कुछ अपने कब्जे में कर चुके थे और पूरी तरह से एक अपराधी थे। वे उन दुर्लभ और भयानक कठमुल्लों में थे जो मानव आबादी के दसवें हिस्से को खुश करने के लिए बाकी के नौ हिस्सों का संहार करने की क्षमता रखते थे। (पृष्ठ-164) एक और इतिहासकार कांक्वेस्ट को उदधृत करते हुए गुहा कहते हैं कि स्टालिन का व्यक्तित्व कितना ही सादगीपूर्ण, संघर्ष भरा तथा सयंमित क्यों न दिखाई देता हो, उनके जीवन के बारे में यही कहा जा सकता है कि उसमें सीखने लायक कोई नहीं है और उनका जीवन नीरस है। (पृष्ठ-161)।

एक महत्वपूर्ण लेख सी. राजगोपालाचारी पर है। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बहुत जरूरी। राजा की इतनी संक्षिप्त और रोचक जीवनी अन्यत्र नहीं मिलेगी। कैसे वे गांधी के संपर्क में आए और क्यों गांधी उन्हें अपना 'कांशस कीपर' कहते थे। भारत के प्रथम गर्वनर जनरल रहे। नेहरु मंत्रीमंडल में शामिल हुए, फिर तमिलनाडु के मुख्यमंत्री और अंतत अलग पार्टी बनाई। राजाजी हमेशा पाकिस्तान के साथ मधुर संबंधों के पक्ष में रहे। उनकी इच्छा यह भी थी कि कश्मीर के लोग सम्मान और प्रतिष्ठा के साथ जिंदगी व्यतीत करें। और साथ ही वे बाजार आधारित अर्थनीति की वकालत करने वाले शुरूआती लोगों में थे। इन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास के पूरे कालखंड की आलोचना प्रस्तुत की और इसे समझाने के लिए 'लाइसेंस-परमिट-कोटा राज' और 'हिंदू विकास दर' जैसे मुहावरे गढ़े। आज शायद ही किसी को याद हो कि ये दो मुहावरे राजाजी के दिमाग की उपज थे।

गुहा के आकलन में राजाजी का राजनीतिक जीवन समन्वय का मूर्त रूप था। हिंदू और मुसलमान, भारत और पाकिस्तान, भारत और इंग्लैंड, उत्तर भारत और दक्षिण भारत, नीची जाति और ऊंची जाति के बीच समन्वय जैसे प्रसंग उनके सार्वजनिक जीवन में बार-बार घटित होते रहे। एक ऐसे समाज में जहां टकराव और दुश्मनी को जानबूझ कर भड़काया जाता है, 'उनका रास्ता कांटों भरा था। जैसा कि एक बार उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा, 'जिनका जन्म सामंजस्य बिठाने के लिए हुआ है। लगता है दुनिया में उनकी जिम्मेवारियों का कोई अंत नहीं है।' (पृष्ठ-31)

रामचंद्र गुहा की बातों पर यकीन करें तो उनके इन्हीं गुणों के कारण शुरु में गांधी ने राजा जी को ही उत्तराधिकारी चुना था। बाद में उन्होंने नेहरु के पक्ष में अपना मन बदला। इस लेख में नेहरु का राजा जी के संदर्भ में कुछ-कुछ तानाशाह का रुप भी उभरता है।

रामचंद्र गुहा की दृष्टि और अनुभव बहुत बड़े दायरे में फैले हैं। इसलिए पुस्तक में मशहूर पर्यावरणवादी अनिल अग्रवाल, नेपाली राजनेता बी.पी. कोईराला, अंतरिक्ष वैज्ञानिक सतीश धवन, बंगलौर के वैद्ययार, पी.जी. वैद्यनाथन से लेकर अटल बिहारी वाजपेयी और नीरद बाबू की नजर में नेहरु पर भी सारगर्भित लेख शामिल हैं। जो अपने-अपने क्षेत्र की इन विभूतियों के योगदान और दृष्टि को सामने लाते हैं।

हिंदी लेखकों के लिए इस पुस्तक का विशेष महत्व है। इसकी कारण पुस्तक में शामिल कम-से-कम पांच लेख हैं। दक्षिण एशियाई अच्छी जीवनियां क्यों नहीं लिख पाते और क्यों उन्हें लिखना चाहिए, आत्मकथा लेखन की कला, किताबों की फुटपाथी दुकानें, विचार पत्रिकाएं, कन्नड़ के टैगोर : शिवराम कारंत। वाकई हिंदी में आत्मकथा या जीवनी मुश्किल से ही मिलेगी। यह गुहा की नजरों में पूरे भारतीय साहित्य पर भी लागू है।

कलकत्ता के इतिहासकार रूद्रांशु मुखर्जी बताते हैं कि जबकि पश्चिम में 'बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध महान जीवनियों का काल' रहा, इसका भारतीय लेखकों और विद्वानों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक ऐसा देश जो कि व्यक्तियों के प्रति सनक रखता है, वहां भी जीवनी लेखन एक कला के रूप में फल-फूल नहीं पाया। भारत के पड़ोसी देशों का रिकॉर्ड भी इस मामले में कोई बहुत अच्छा नहीं है। मोहम्मद अली जिन्ना, जुल्फिकार भुट्टों और एस.डब्लू.आर.डी भंडारनायके की स्तरीय या जैसी भी सबसे सुलभ जीवनियां उपलब्ध हैं, ये सब पश्चिम विद्वानों ने कलमबद्ध की हैं। (पृष्ठ-253)

एक ओर लेख 'आत्मकथा लेखन की कला' में रामचंद्र गुहा ने तीन आत्मकथाओं पर टिप्पणी की है। ये आत्मकथा हैं 'गांधी', 'जवाहर लाल लेहरु' और 'नीरद सी चौधरी' की। पश्चिमी आत्मकथाओं के साथ तुलना करते हुए गुहा लिखते हैं कि पश्चिमी आत्मकथाएं, चाहे वे अपरिपक्व हों या परिपक्व, आत्मविश्लेषण ज्यादा करती हैं। उन्हें आत्मसात कर लिया गया होता है और साथ ही उनमें स्वनिंदा भी होती है। आमतौर पर समाज को इनसे काफी दूर रखा जाता है। ज्ञान बांटने की न्यूनतम कोशिश रहती है। इसके विपरीत, भारतीय आत्मकथाएं गंभीर होती हैं। जैसे कि गांधी, नेहरु और (कह सकते हैं कि) चौधरी की आत्मकथाओं में कोई एक भी मनोरंजक या मजाक वाली टिप्पणी मिली हो, यह कोई नहीं कह सकता। (पृष्ठ-267)

एक बेहद बेजोड़ लेख दिल्ली के दरियागंज के फुटपाथ पर लगने वाले बाजार पर है। बीस वर्ष पहले दिल्ली सरकार और उसके

नौकरशाह इसे बंद करना चाहते थे। यह पढ़कर अच्छा लगा कि गुहा जैसों की भूमिका और उनके जुड़ाव ने इस फुटपाथी बाजार को बंद होने से बचाया। इस बाजार का महत्व वही जान सकता है जो किताबों की दुनिया से इतनी गहराई से जुड़ा हो।

कम-से-कम हिंदी के हर लेखक और पाठक को इस पुस्तक में शामिल कन्नड़ लेखक शिवराम कारंत का लेख अवश्य पढ़ना चाहिए। गुहा उन्हें कन्नड़ का टैगोर कहते हैं। क्यों? टैगोर की तरह उनके क्षेत्र भी कम-से-कम 16 हैं। शिवराम कारंत सर्वाधिक प्रभावशाली कन्नड़ उपन्यासकार, ख्यातिप्राप्त नाटककार, नर्तक, नृत्य निर्देशक, विश्वकोश संग्राहक, समाज सुधारक, देशभक्त और शिक्षाविद थे। उनकी अनगिनत प्रवृत्तियों को लेकर कन्नड़ में एक मुहावरा प्रचलित हैः 'आदू मुत्तादा सोपिल्ला, कारंथरु मादादा केलासाविला' मतलब कि कुछ शाक-भाजी हैं जिन्हें बकरा नहीं खाता, लेकिन ऐसा कोई काम नहीं है, जिसे कारंत ने नहीं किया हो। (पृष्ठ-213)

शिवराम कारंत की उपलब्धियों की तुलना टैगोर से की जा सकती है। वास्तव में उनकी शैली और किसी खास चीज के प्रति उनका लगाव कहीं बड़ी पहेली है। जरा इन बातों पर ध्यान दें : टैगोर की तरह कारंत ने भी युवाओं के साथ-साथ वयस्कों के लिए भी लिखा। उनके द्वारा लिखित प्रवेशिका को पढ़कर स्कूल जाने वाले कन्नड़ बच्चों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी जवान हुई। उन्होंने इसका पूरा ध्यान रखा कि इन पाठ्यपुस्तकों में पर्याप्त संख्या में चित्र हों। इस काम के लिए उन्होंने के.के.हेब्बर का सहारा लिया। हेब्बर कन्नड़ में बंगाल के नंदलाल बोस के समकक्ष हैं। कारंत का चिल्ड्रेन इनसाइक्लोपीडिया बहुत ही आकर्षक तरीके से तैयार किया गया था। उन्होंने कई तस्वीर खुद ली थी। यहां तक कि रंगों का चयन भी जर्मनी में खुद ही किया था। (पृष्ठ-213-216)

एक और छोटा अध्याय है 'हाफ मार्क्स'। खिलंदड़ अंदाज में ही रचनात्मकता फूटती है यह गुहा के सभी लेखों में स्पष्ट है। बिना लाग-लपेट के दोस्तों, दुश्मनों की उपस्थिति को नजरअंदाज करते हुए यही कह सकते हैं। उन्हें डंके की चोट पर सुनाते हुए। मार्क्स की 'दास कैपिटल' प्रकाशित हुई 1868 में। डर्विन की ओरिजन ऑफ स्पीसीज से नौ वर्ष पहले। कार्ल मार्क्स ने दास कैपिटल की रचना कर यह सोचा होगा कि उन्होंने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वही भूमिका निभाई है जो द ओरिजन ऑफ स्पीसीज की (1859) रचना कर जीवविज्ञान के क्षेत्र में चार्ल्स डार्विन ने निभाई है। जहां एक ओर जीवविज्ञान की किताबें हमेशा चार्ल्स डार्विन से शुरू और खत्म होती हैं, वहीं अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मरणोपरांत जर्मन क्रांतिकारी को जो स्थान प्राप्त हुआ है वह सबसे सटीक तरीके से पॉल सैमुएलसन की इस टिप्पणी में दर्ज है कि 'मार्क्स एक उत्तर-रिकार्डोवादी साधारण अर्थशास्त्री' थे। जे.एन.यू. में यह माना जाता है कि दास कैपिटल अर्थशास्त्र के सिद्धांत का पहला और निश्चय ही आखिर ब्रह्म वाक्य है, जबकि एक व्यक्ति को सैमुएलसन से सहमत होने की ओर भी प्रवृत्त होना चाहिए।

क्या 'महात्मा गांधी की मार्कशीट' जैसा लेख आपको कहीं और मिल सकता है? इसे पढ़कर पता लगता है कि चालीस प्रतिशत नंबर पाने वाले शख्स अपने कामों की बदौलत दुनिया के लिए एक मिसाल बन सकता है।

प्रस्तावना की टिप्पणी भी बहुत रोचक और गंभीर पठनीयता का आमंत्रण देने वाली है। वे साफ-साफ अपने को नेहरु का प्रशंसक बताते हैं। उससे अगली पीढ़ियों का नहीं। वे लिखते हैं नेहरु एक लोकतांत्रिक व्यक्ति थे जबकि इंदिरा और राजीव स्वेच्छाचारी। साथ ही मां-बेटे स्वार्थी, जुगाडू थे जबकि नेहरु शालीन और आदर्शवादी। इंदिरा, राजीव पर निडर टिप्पणी पढ़ने और सोचने को विवश करती है। प्रस्तावना में ही छिटक आयी एक और टिप्पणी ध्यान खींचती है और उसे सभी को जानना भी चाहिये। राजमोहन गांधी महात्मा गांधी के पड़पोते हैं, लेकिन बहुत प्रसिद्ध पत्रकार और इतिहासकार के रूप में भी उनकी विशिष्ट पहचान है। अपनी किताब द गुड बोटमैन में राजमोहन गांधी यह पूछते हैं कि क्यों महात्मा गांधी ने नेहरु को अपना उत्तराधिकारी चुना? 'यह चुनाव पेचीदा है (या था) क्योंकि कई मामलों पर ये दोनों व्यक्ति भिन्न राय रखते थे। एक धार्मिक और संयमी था दूसरा नहीं। एक औद्योगिकीकरण के पहले की दुनिया का हिमायती था तो दूसरा यह दावा करता था कि आधुनिक कारखाने ही भविष्य हैं। एक बहुत ही अराजकतावादी था जिसने सार्वजनिक संस्थाओं से मुंह फेर लिया था और दूसरे ने राज्य का सर्वोच्च पद संभाला। ऐसे में गांधी ने व्यक्तित्व और विचारधारा में बुनियादी भिन्नताओं के बावजूद नेहरु को अपना उत्तराधिकारी क्यों चुना।'

इस पहेली को सुलझाने के लिए राजमोहन गांधी हमें 1947 की गर्मी के दिनों में वापस ले जाते हैं। संयुक्त भारत के आखिरी दिनों में महात्मा गांधी खुद को एक सिंधी और पंजाबी, सभी समाजवादियों के चहेते और कम्युनिस्टों के पिता कहते थे। राजमोहन कहते हैं, यह बहुल पहचान यह दर्शाता है कि महात्मा किस तरह 'सभी भारतीयों को अपने परिवार में शामिल' करने की कोशिश कर रहे थे। ऐसा ही जवाहर नेहरु ने अपने पूरे राजनीतिक जीवन में किया। गांधी के दूसरे करीबियों के बारे में ऐसा पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता है। वल्लभ भाई पटेल और सी.राजगोपाचारी, निश्चय ही ये दोनों उस अंतिम सूची में शामिल रहे होंगे जिसके आधार पर गांधी ने अपना उत्तराधिकारी चुना। हालांकि, एक ओर जहां पटेल सांप्रदायिक सौहार्द के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध थे तो दूसरी ओर राजगोपालाचारी एक ऐसे धार्मिक बहुलवादी थे जिन्होंने 'छुआछूत' खत्म करने के लिए काम किया, लेकिन दोनों ही अपनी छवि को तोड़ने में पूरी तरह सफल नहीं हो सके थे। (लेखक की प्रस्तावना)

ऐतिहासिक व्यक्तियों, तथ्यों पर लिखी बेजोड़ गद्य की यह किताब है लेकिन इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कोई किताब आपके दिमाग के आयतन को कितना विस्तार देती है।

समीक्षा
संस्कृति विमर्श

सच का आईना और पिसा हुआ समय

■ नीलाभ कुमार

विभिन्न विषयों पर विभिन्न वर्षों में लिखे गये लेखों का संग्रह 'शब्द-घड़ी में समय' उदारीकरण और उसके बाद बनने वाले साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्यों से ही हमें अवगत नहीं कराता, बल्कि उन परिदृश्यों से टकराते चलने का हमें इल्म भी देता है, जिन परिदृश्यों ने देश की तस्वीर ही बदल डाली। बदली हुई इस तस्वीर का मंज़र अफ़सोसजनक है या हर्षोलास्सित करनेवाला- इसका फैसला समय की गर्त्त में छिपा है। हमें तो उन परिस्थितियों का सामना करना है, जो परिस्थितियाँ अपने धुँधलके से समाज को अपने मोहपाश में जकड़ चुकी हैं। परिस्थितियों के इस मोहपाश को घड़ी की सुइयों के सहारे नहीं पहचाना जा सकता, इसके लिए शब्द-घड़ी की ही आवश्यकता है, जो शब्द-घड़ी अपनी सुइयों की नोंक से समाज की विडंबनाओं को पर्त-दर-पर्त उघाड़ती और साथ-साथ हमें इत्तिल्ला देती चल सकती है कि भूमंडलीकृत होती दुनिया का मोहपाश भले ही जितना लोमहर्षक लगे, उसकी सूरत उतनी मोहक नहीं है, जितनी कि हमें दिखाने की कोशिश का अहम् प्रयास किया जा रहा है। यह अहम् प्रयास हमें अपने मोहपाश में जकड़ रखने और अपनी शर्त्तो पर हमें चलने को तैयार करने के लिए हमेशा छद्म वातावरण के निर्माण में जुटा रहता है।

'शब्द-घड़ी में समय' में जो विभिन्न विषयों पर लेख संग्रहित हैं, वे दो खण्डों में हैं। पहले खण्ड के लेख समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि विषयों को आधार बनाकर लिखे गये हैं। ये लेख जितने विचारोत्तेजक हैं, उतना ही समकालीन परिदृश्यों के कपाट को खोलने वाले भी। ये हमें समकालीन परिदृश्यों से सिर्फ अवगत ही नहीं कराते, वरन् उन परिदृश्यों से हमारा किसी-न-किसी रूप में सरोकार स्थापित कराते नजर आते हैं। यह सरोकार कोई परिवारिक सरोकार निर्मित नहीं करता, बल्कि यह उन परिदृश्यों को समझने का हमें इल्म मुहैया कराता है या उन परिस्थितियों से वाकिफ़ कराता है, जिन परिस्थितियों से दो-चार होते ही हम अपने जीवन रुपी नौका को खेने में जुटे होते हैं। दूसरे खण्ड के लेख कुछ महत्त्वपूर्ण कृति व्यक्तित्वों पर केंद्रित हैं। ये कृति व्यक्तित्व सिर्फ हमें ही नहीं, वरन् उस पूरे साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करते जान पड़ते हैं, जिस परिदृश्य के सहारे साहित्य की विधायें सिर्फ विकसित हो रही हैं, वरन् एक रूपाकार भी ग्रहण करती नज़र आ रही हैं। ऐसे में कृति व्यक्तित्वों को जानकर हम न सिर्फ एक व्यक्ति के बारे में जान रहे होते हैं, वरन् उसके साथ उसके पूरे काल और उस काल की कालगतिता से होते समकालीन परिदृश्य को भी समझ रहे होते हैं।

विगत दो दशकों में जो दुनिया की तस्वीर बनी है, उस तस्वीर में दुनिया के भूमंडलीकृत होने और उस भूमंडलीरण से उपजे छद्म वातावरण ने पूरी दुनिया को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया है। यह प्रभाव हमारे जीवन में इस कदर हावी है कि उससे हम चाहकर भी मुक्ति नहीं पा सकते। यह मुक्ति न पा सकने की बेचैनी हमें चाहे जितना चिढ़ाती रहे, हम चाहकर भी उससे अलग नहीं हो पाते। यह एक ऐसे वातावरण में निर्मित दुनिया की तस्वीर है जो हमसे सिर्फ 'भोग्य' होने की ताक़ीद करता है। हमारी भाषायी स्वायत्तता की पहचान का खोना भी एक ऐसे ही मोहपाश के छद्म में निथर जाने की कहानी कहती जान पड़ती है। यह विचित्र ही नहीं, किसी भी संप्रभु राष्ट्र के लिए एक विडंबनात्मक तस्वीर ही हमारे सामने नुमायाँ करती है, जिसके सहारे हम उस विडंबना से दो-चार होते हैं, जिसमें अपना बच्चा पराया हो गया है और हम अपने बच्चे को छोड़ पड़ोसी के बच्चे की कथित सुंदरता से इठला रहे हैं। यह परायापन का बोध ही है जो हमें न सिर्फ अपनी निजात से वंचित किए जा

शब्द घड़ी में समय
राजेंद्र कुमार
साहित्य भंडार, इलाहाबाद
मूल्य : 380/

बहुवचन, वागर्थ, कथादेय, पाखी तथा अन्य पत्रिकाओं में लगातार लेखन के साथ साथ छत्तीसगढ़ में एक जिले के कस्बे के शासकीय महाविद्यालय में प्राध्यापन।
संपर्क : 09644212029
ईमेल : kumarneelabh81@gmail.com

रहा है, बल्कि हमें अपनी थाती, जिस पर हमें इठलाना चाहिए उसी से हम दूर भाग रहे हैं। ऐसी ही मुग्धता हमें अंग्रेजी को लेकर भी है, जिस अंग्रेजी के सहारे ही हम अपनी नौका पार लगाने की आस में उस पर सवार हैं। हम उस नौके पर सवार हैं, जिसे कहां जाना है, किधर जाना है, कब जाना है-उसे तो मालूम है, लेकिन हम उसके वाकिफ़ नहीं हैं या हमें वाकिफ़ होने नहीं दिया जा रहा है। यह वाकिफ़ न होने देने की पीड़ा हमें जितना सालती है, उससे हमें अपनी जिंदगी के परायेपन का बोध खाए जाता है, जिसे हम अपनी जिंदगी संवारने की कोशिश में जुटे होने का भ्रम पाले बैठे हैं।

यह एक कटु सत्य हो सकता है कि जिसे अपने बच्चे की सुंदरता, कुरुपता का एहसास नहीं, वह दूसरे के बच्चे की कथित सुंदरता से कितना इठला सकता है। हमें अपनी भाषा की सुंदरता का इल्म नहीं हैं, तो दूसरे की उधार ली हुई भाषा से आखिर कब तक काम चलाने की सोच सकते हैं। जब लेखक अपनी इस पुस्तक में अकबर इलाहाबादी के शेर के सहारे हमें इस बात से वाकिफ़ कराते जान पड़ते हैं तो हमारे सामने वह दृश्य नाच जाता है, जिसमें हम पड़ोसी के बच्चे की कथित सुंदरता से खुश होने का भ्रम पाल रहे होते हैं और अपने बच्चे की चिंता में डूबने की बजाय दूसरे के बच्चे को क्षणिक समय गोद में पाकर इठलाने की पुरजोर कोशिश की नाकामियत से दो-चार हो रहे होते हैं। हमें यह भी पता नहीं होता है कि हम किधर जा रहे हैं, उस दूसरे के बच्चे को गोद लिए, हमें कहां जाना है, किस ओर जाना है-इसका भी इल्म जैसे हम गंवा बैठे है!

हमारी इस्तलाहों से जबां नाबाशना होगी,

लुगाते-मग़रिबी बाज़ार की भाखा से जम होंगे।

बाज़ार की भाषा और उस भाषा में निष्पन कला की जरूरतों पर जब हमारा ध्यान आकृष्ट होता है तो हमें मालूम होता है कि कला का एक संबंध हो सकता है बाज़ार से लेकिन जब बाज़ार की शक्तियाँ अपने छद्म को इतना फैला लेती हैं कि उसी में हमारी भाषा पिसने को मजबूर हो जाए तो यह स्थिति घोर अमानवीयता की तरफ हमें ढकेलती है। एक ऐसी अमानवीयता जिसमें बाजारु शक्तियाँ ही सब कुछ अख़्तियार कर रही होती हैं और सबकुछ जैसे 'माल' के रूप में ही परोसे जाने को प्रस्तुत किये जाने का ढोंग रचा जाता है।

लेखक की नज़र में ''भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण ये सब पाँसे हैं, जिन्हें हाथ में लिए आर्थिक साम्राज्यवाद अपनी वैश्विक राजनीति के चौपड़ पर खेल रहा है। उसी भरोसे के साथ- 'कृतं में दक्षिणे हस्ते, जयो में सत्य आहिताः'। ''(पृष्ठ सं.-60)। हम अपना जैसे सबकुछ खो बैठे हैं। हमने अपना सब कुछ बाजार की शक्तियों के हवाले कर दिया है। और ये बाजार की शक्तियाँ हैं जो हमें अपने मोहपाश में इस कदर जकड़ लेने को तैयार है कि हम चाहकर भी उससे बाहर नहीं निकल सकते। हमें अपना अब वह सबकुछ बिसूर गया-सा लगता है, जिसके दम पर हम 'अपना' कह पाते थे। इसी को लेखक 'कितना बदल गया इलाहाबाद' वाले लेख में कुछ यों लिखते हैं: ''पहले सिविल लाइंस वह जगह होती थी, जहाँ सड़कों पर ज़िंदगी धीरे-धीरे चलती थी और सड़क से थोड़ा भीतर घुसने पर कॉफ़ीहाउस में बहसें ज़ोर-ज़ोर से चलती थी। अब वहाँ कॉफ़ीहाउस में गर्म काफी तो आपको मिल जाएगी लेकिन वो गर्मागर्म बहसें कहाँ? अब यहाँ 'माल' हैं, 'बिग बाजार' हैं। अब आपका सामाजिक स्तर (सोशल स्टेट्स) तय करने का अधिकार इन्हीं सबको है, उस बौद्धिकता और सहृदयता को नहीं, जिस पर आपको बड़ा नाज़ होता था।'' (पृष्ठ सं.-153-154)

सवाल सिर्फ बाज़ार की शक्तियों का ही नहीं है, बल्कि उन शक्तियों से उत्पन्न उस स्थिति का भी है जिसमें हमारी संवेदनशीलता का भी क्षरण हुआ है। हमारे सामने सबकुछ 'कमोडिटी' के रूप में ही परोसे जाने का उपक्रम रचा जा रहा है। हमारी संवेदनाओं पर पतीला लगाने वाली ये शक्तियाँ न सिर्फ हमें, बल्कि उस पूरे तंत्र को अपने गिरफ़्त में ले लेती हैं, जो नीति-नियंता हैं, ताकि उसके द्वारा बनायी जानी जायें। अपनी इस नीति की सफलता को देख बाजारु शक्तियाँ भला उत्साहित क्यों न हो।

बाज़ार की शक्तियाँ अपने छद्म आवरण को इतना लोमहर्षक बना रही हैं कि उसे अपनी जरूरतों के हिसाब से उपभोक्ता वर्ग को तैयार करने में जैसे पूरी सहूलियत हो रही है। बाज़ार वही कुछ परोस रहा है, जिसे वह लोगों को देना चाहता है। हम वही देखें, जिसे वह दिखाना चाह रहा है। हम उसी वस्तु को आजमायें, जिसे वह मेरे लिए परोस रहा है। इसके लिए एक पूरा तंत्र खड़ा है, जिसके सहारे बाज़ार अपना कारोबार जारी रखने ही नहीं, बल्कि सारा कुछ अपने इशारे से ही लोगों को परोस सकने में सफलता अर्जित कर सके। उपभोक्ता के साथ ऐसा छद्म अख़्तियार करना है, जिसके मोहपाश में उपभोक्ता आसानी से फँस सके। हम जो बाज़ार से चाह रहे हैं, वह मिले, लेकिन बाज़ार की शक्तियों के शर्त्तों के अनुसार। इसमें इतनी कुशलता बरती जाती है कि हमें पता भी नहीं चलता कि हमारा स्वत्व छीन रहा है, हम दूसरों के गुलाम हुए जा रहे हैं। हम खड़े देखते रह जाते हैं और बाज़ार हमसे वह सारा कुछ अख़्तियार कर लेता है, जिसे वह चाहता है। प्रश्नवाचक चिह्न के साथ समाप्त हुए अपने लेखों से लेखक हमें इस बात की इत्तिल्ला देने का प्रयास करते हैं कि हमें सावधान हो जाना चाहिए, नहीं तो हमारा जो कुछ बचा है, वह भी बाज़ार के पूरी तरह से हवाले हो जाएगा। ''मीडिया के जरिये आज कोशिश यह की जा रही है कि हमारी सारी उत्तेजनाओं का द्वार सिर्फ़ हमारी आँख हो और हमारी आँखें सिर्फ़ वही देखें, जो उसे दिखाया जा रहा है। हमारी

स्वतंत्रता पर आज जो तमाम खतरे हैं, उनमें से यह खतरा ही हमें मानसिक और सांस्कृतिक रूप में सर्वाधिक विकलांग बना देने वाला नहीं है?'' (पृ.सं.-49)।

लेखक हमें पहले खण्ड के विचारोत्तेजक लेखों में मुख्य रूप से बाज़ारु शक्तियों से सावधान रहने और अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक विरासत को सुरक्षित रख सकने की ताक़ीद करते नज़र आते हैं। इस प्रक्रिया में उन पहलुओं को भी विवेचित-विश्लेषित करते जान पड़ते हैं, जिनके लिए होड़-तोड़ मची हुई है। यह होड़ कोई सकारात्मक होड़ नहीं है, बल्कि-एक दूसरे को पीछे छोड़ने; वह भी उस रूप में कि कौन कितना भ्रष्टता की सीमा को लांघ सकता है, दूसरे को पीछे छोड़ सकता है। इसके लिए लेखक हास्य और व्यंग्य का भी सहारा लेते हैं

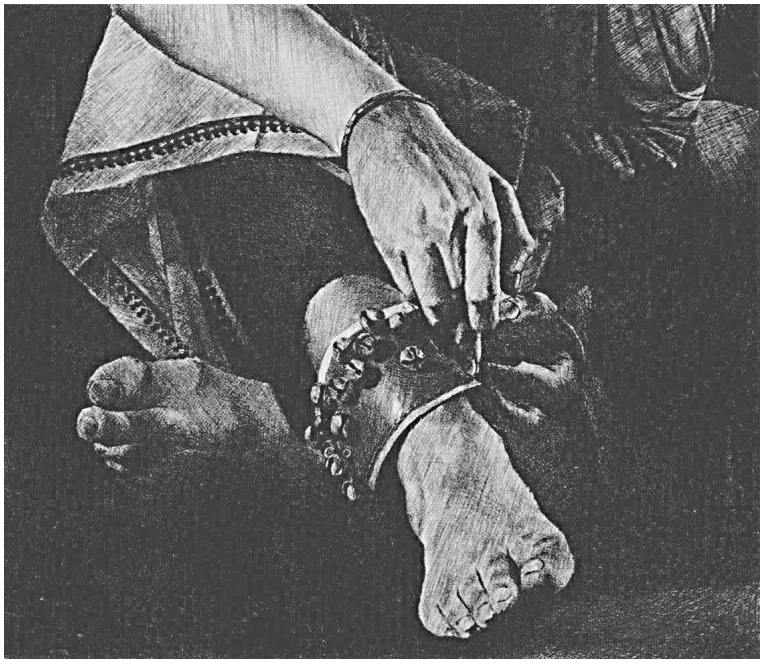

■ *रवि कुमार का ड्रायप्रिंट*

कि देखो होड़ा-तोड़ किस बात की ठनी है और साथ में इस बात की जैसे सलाह भी कि हमें एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ रखनी चाहिए न कि राष्ट्रीय अपमान को शिरोधार्य करने की होड़ मचानी चाहिए। भारत रत्न के लिए यह होड़ राष्ट्रीय अपमान की तरह की एक होड़ है।

अपनी इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में लेखक ने कृति व्यक्तित्वों के सहारे समय को देखने की कोशिश की है। इन कृति व्यक्तित्वों में गोपालशरण सिंह, मेघनाद साहा, भगवतीचरण वर्मा, सज्ज़ाद जहीर, रामकुमार वर्मा, अमृतराय, लक्ष्मीकांत वर्मा, रघुवंश, अमरकांत, नामवर सिंह, त्रिलोचन, मनोहर श्याम जोशी, गोपेश, नित्यानंद तिवारी, रामकमल राय, संजीव, अदम गोंडवी के अलावा वे भी जिन्हें हमने नीचे उद्धृत किया है- शामिल हैं।

सत्यप्रकाश मिश्र और नैयर आक़िल पर लिखे गये लेखों के माध्यम से हिंदी-उर्दू की एकता को एक विश्वस्त सूत्र में पिरोने की वकालत लेखक के प्रगतिशील दृष्टिकोण को ही हमारे सामने प्रकट करता है। ''क्योंकि मेरा मानना है कि हिंदी और उर्दू का जो भी भविष्य है, दोनों के साथ-साथ चलने और एक-दूसरे का साथ-साथ हित चाहने में है।'' (पृ.सं. - 282)

इसे बच्चन का तेज ही कहा जाएगा जो अपनी कुशलता के बल पर मंच के सहारे लोगों को अपने काव्य से जोड़े रखने में सफलता प्राप्त करते हैं।

आचार्य द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि और राम विलास शर्मा का परंपरा का मूल्यांकन- का जुड़ना कोई आकस्मिक घटना सरीखा रहा है। दोनों के यहाँ परंपरा अपने जीवंत रूप में हमारे सामने आती है, किसी पिष्टपेषण रूप में नहीं। परंपरा की जीवंतता का ही यह आलम है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि परंपरा बोध को मांजती है और रामविलास जी के यहाँ परंपरा का आग्रह अपनी परंपरा को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखे जाने और उससे हमें आधुनिक समय में समय की गतिशीलता को आगे बढ़ाने में मददगार बनाने में, सहायक के रूप में ही चित्रित दिखाई देता है। परंपरा का यह बोध हमें न सिर्फ काल की गतानुगतिता से आगे ले जाता है, बल्कि एक दृष्टि भी प्रदान करता है, जिसमें विवेकवान हो, समय को समझने का इल्म पाते हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान के माध्यम से लेखक ने भारतीय स्त्री को चहारदीवारी से बाहर निकालने वाली बात को न सिर्फ महत्वपूर्ण बताया है, बल्कि यह भारतीय परिवेश की एक तस्वीर से भी हमें वाकिफ़ कराता जान पड़ता है, जिसमें आधी हकीकत से हम रू-ब-रू होते हैं। इस हकीकत बयानगी का श्रेय सुभद्राकुमारी चौहान के रास्ते हिन्दी साहित्य को भी जाता है।

फ़ैज़ के माध्यम से लेखक अपनी सकारात्मकता को भी चित्रित करते जान पड़ते हैं, जो सकारात्मकता अँधेरे के बीच में भी एक टिमटिमाती लौ की भाँति प्रकाशमान रहती है। यह 'लौ' ही है, जो हमें कोई-न-कोई रास्ता दिखाती ही है और हम उस रास्ते के सहारे अँधेरे को पार पाने में सफलता अर्जित करते हैं।

देर-कफ़स पे अँधेरे की मुहर लगती है
तो फ़ैज़ दिल में सितारे उतरने लगते हैं।

समीक्षा
उपन्यास

मुसलमान होने का दर्द

■ प्रेमचंद सहजवाला

भारत में हिंदू-मुसलमान रिश्ते ब्रिटिश समय से ही तनावपूर्ण रहे। मोहम्मद अली जिन्ना की पाकिस्तान बनाने का ख्वाब पूरा करने के लिये हिंदू-मुस्लिम के बीच घृणा पैदा करने की ज़िद में सन् '46 में कलकत्ता में भीषण दंगे हुए फिर सन्' 47 में आज़ादी मिलते ही विभाजन की मर्मान्तक पीड़ा पर आज़ादी के बाद हिंदू-मुस्लिम के बीच् '46 जैसी ही खतरनाक दीवार खड़ी कर देने वाली घटना थी बाबरी मस्जिद विध्वंस या उससे पूर्व की रथ-यात्रा। प्रियदर्शन मालवीय का उपन्यास 'घर का आखिरी कमरा' उसी घटनाचक्र से उपजी मुस्लिम पीड़ा की कहानी है। हिंदू-मुस्लिम समाज दोनों भारतीय हैं, फिर भी हिंदू के मन में मुसलमान के प्रति एक अजनबियत भरी दूरी सदा बनी रहती है, उपन्यास के निम्न संवादों से ही यह स्पष्ट पता चलता है।

'मुसलमान हर काम हिंदुओं से उल्टा क्यों करते हैं?' ओ.पी. ने एकदम से कह दिया ....'जैसे हिंदू पूरब की ओर मुंह कर के पूजा करते हैं तो मुसलमान पश्चिम की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ते हैं'....'हिंदी बाएं से दाएं लिखी जाती है तो उर्दू दाएं से बांए' ... 'हम लोग हाथ धोते समय बांह से पंजे की तरफ जाते हैं जबकि तुम लोग पंजे से बांह की तरफ जाते हो...' (पृ. 29-30)

उपन्यास का बेरोज़गार मुसलमान नायक अमज़द मियां अपने हिंदू मित्र की भ्रांतियों को दूर करने के लिए खासी मशक्कत करता है कि मुसलमान काबे की तरफ रुख करके इबादत करते हैं, संस्कृत और उर्दू क्रमशः सिंधु नदी के पूरब और पश्चिम क्षेत्रों से जन्मी हैं जहाँ ब्राह्मी (बाएं से दाएं) और खरोष्ठी (दाएं से बाएं) लिपियाँ प्रचलित थीं, और मुसलमान अरब से आए थे जहाँ पानी की कमी थी। पंजे से बांह तक हाथ धोने से पानी कम लगता है, वगैरह वगैरह (वही पृष्ठ)। पर हिन्दू मन की मुसलमान से दूरी इस कदर है कि अमज़द मियां को उसके हिंदू मित्र यहाँ तक कहते हैं कि जाकर मिडिल ईस्ट में नौकरी ढुंढ़ो पर उतने ही चुनौतीबद्ध अमज़द मियां जब तर्क पर तर्क करते हैं तो उनसे कहा जाता है- 'बड़े तेवर में बोल रहा है मुसड्डा। इन आतंकवादियों का दिमाग बहुत खराब कर रखा है हमारे सेकूलर नेताओं ने। (पृ.24) अमज़द मियां का मित्र फुरकान मियां बताता है- 'मेरे चाचा को एक जगह इंटरव्यू में यह कह कर भगा दिया था कि पाकिस्तान जा कर नौकरी मांगो, जब लड़कर पाकिस्तान मांग लिया तो यहाँ नौकरी क्यों ढूंढ रहे हो? (पृ. 40) अमज़द मियां की तरह भारत के हर मुसलमान युवा का दर्द शायद यही है कि मुसल. मान और आतंकवादी पर्यायवाची क्यों बना दिए गए हैं। जबकि वास्तविकता यही है कि भारत में मुसलमानों के बीच आतंकवाद बाबरी-मस्जिद विध्वंस के बाद पैदा हुआ। भारत में मुस्लिम आतंकवाद की पहली घटना बाबरी - विध्वंस के ठीक एक साल बाद हुई (पृ.26). जहाँ एक तरफ हिंदू सोच के आघात मुसलमान युवा पर लगते हैं वहीं हिंदू गुरूर के भीतर जीते मुस्लिम युवा को इस्लाम का गौरव भी अपने अंतर्मुखीपन में बखूबी झलकता है, शराब ना पीने का कारण वह गांधी को बताता है परंतु झाँक कर देखते ही उसे लगता है कि शराब ना पीने का कारण उसके अपने मज़हब के संस्कार हैं। दिल्ली घूमते-घूमते अपने पुरखों पर नाज़ होता है। उन पुरखों ने 'गंगा-जमुनी' तहज़ीब के चमन को सवांरा... उन्होंने शासितों को इंसान माना (जो कुछ हद तक अतिशयोक्ति भी कही जा सकती है) (पृ. 64), हिंदू मन है कि वह एक मुसलमान के हृदय पर सीधे चोट करता उसे एस. एम.एस. करता है कि तालिबान की तीन पहचानः 1. जितने दांत होते हैं उससे ज्यादा उनकी पत्नियां होती हैं, 2. उनके पास रॉकेट लांचर होंगे पर उनके पैरों में चप्पलें नहीं होंगी, 3.अफीम का धंधा करते हैं मगर बियर पीने पर उनकी नैतिकता संकट में पड़ जाती है (पृ. 71) दरअसल प्रियदर्शन मालवीय का उपन्यास हिंदू मन में मुसलमानों के बारे में उपजी जानी-पहचानी किंतु भ्रांतिपूर्ण सोच पर एक अच्छा निबंध है जिसे और अधिक प्रगाढ़ व घटना-युक्त कथावस्तु द्वारा और अधिक प्रखर बनाया जा सकता था। पर लेखक उसे मिस कर गए हैं।

घर का आखिरी कमरा
प्रियदर्शन मालवीय
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली
मूल्य : 130/

'भगत सिंह : इतिहास के कुछ और पन्ने' पुस्तक के चर्चित लेखक। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09899706702
ईमेल : premuncle@gmail.com

उपन्यास का एक चेहरा केवल हिंदू सोच को संवादों द्वारा रेखांकित करता चलता है। यह वही घृणा-युक्त व खौफज़दा सोच है जो एक पार्टी व एक नेता ने अपनी राजनीतिक हवस को पूरा करने के लिये ठीक जिन्ना की तर्ज़ पर भारत के हिंदुओं के बीच पैदा की और पूरी तरह सफल भी रहा। सेकूलर कहे जाने वाले इस देश में हिंदू प्रभुत्व के खौफ से जहाँ एक तरफ अमज़द जैसे युवा है जो कमोबेश अंतर्मुखी जीवन जीते हैं, वहीं दूसरी तरफ चमन भाई जैसे मुस्लिम हैं, जो जीवित रहने के लिये हिंदुओं की खुशामद में ही अपने लिये अभयदान पाते हैं। उपन्यास के प्रारंभ में ही उपन्यास का नायक अमज़द मियां के रोल मॉडल इशरत की एक हिंदू लड़की से प्रेम करने पर बुरी तरह पिटाई हो जाती है। पर वह उच्च चरित्र मुस्लिम युवा इसकी प्रतिक्रिया स्वरुप दंगे नहीं भड़काना चाहता। सो गम भी खाता है और झूठ भी बोलता है।

समाज में धार्मिक विषमता से भी बड़ी एक असली लड़ाई है, वह है आर्थिक विषमता की। पर अमज़द मियां के सभी कामरेड दोस्त या तो हिप्पोक्रेसी करते हैं या समय के साथ रिश्वतें खा कर सुखी-संपन्न जीवन जीते हैं, उनके कम्यूनिस्ट दोस्तों की टुच्ची सोच का चरम वहां आता है जहाँ अमज़द मियां कश्मीर में आए भूकंप के बाद भूकंप पीड़ितों के लिये चंदा इक्ट्ठा करना चाहते हैं, पर उन्हें यह सुनना पड़ता है- 'कश्मीरी सभी आतंकवादी होते हैं, मेरी उन से कोई सहानुभूति नहीं है'... 'नहीं मैं मुसलमानों को देश का नागरिक नहीं मानता, मेरा बस चले तो मैं मुसलमानों को रावलपिंडी तक एकतरफा किराया दे कर यहाँ से भागने को कह दूं.' (पृ.129-30)

उपन्यास में हिंदू खौफ से उपजे मुस्लिम अंतर्मुखीपन के भीतर जीते मुस्लिम परिवारों के आर्थिक संघर्ष को बहुत यथार्थ तरीके से वर्णित किया गया है जिसमें भूमंडलीकरण के एक नायाब शिगूफे यानी 'लोन' का शिकार अमज़द मियां का परिवार भी होता है। अमज़द मियां का परिवार तो मोटर गैरेज लोन लेकर बनाता है। उसे भी एक दिन नगर निगम द्वारा आ कर ध्वस्त कर देने का दिन देखना पड़ता है। पर इस उपन्यास में कई ऐसे महत्वपूर्ण प्रसंग आते हैं जैसे बटाला हाऊस एनकाउंटर या संसद पर आतंकी हमले के आरोपी एस.ए.आर गिलानी का दर्द, जिन्हें केवल आसानी से छू कर एक आसान से रास्ते से आगे बढ़ जाता है, ना तो वह अरुंधती रॉय जैसा साहस दिखा कर बटाला हाऊस जैसे एंकाउंटरों पर प्रश्न चिन्ह लगाता है और ना ही तस्लीमा नसरीन के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'लज्जा' की तरह कोई सशक्त व उत्तेजनापूर्ण विश्लेषणात्मक तथ्य गढ़ पाता है, इस सब के बावजूद देश के मुस्लिम समुदाय की स्थिति घर के आखिरी व उपेक्षित से कमरे में जीने जैसी हो जाती है। यह स्थापित करने में लेखक को काफी सफलता मिली है और 'घर का आखिरी कमरा' एक पठनीय व महत्वपूर्ण विषयक उपन्यास माना जा सकता है।

निवेदन

'पुस्तक-वार्ता' के समीक्षकों से निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें। यथा - पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशन का पूरा पता, पुस्तक का मुल्य, सजिल्द/अजिल्द संस्करण का व्यौरा। समीक्षित पुस्तकों के मुखपृष्ठ को भी स्कैन करके भेजे।

विशेष :

- टाईप किया हुआ मैटर शिवा मीडियम में या कृतिदेव 10 में ही भेजें तो हमें सुविधा रहेगी।

■ ईमेल ■

shubhshubh2012@gmail.com

- डाक से भेजने की स्थिति में स्पीड पोस्ट या रजिस्टर्ड डाक से ही निम्न पते पर भेजें-

■

संपादक, 'पुस्तक वार्ता',महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,

पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा -442005 (महाराष्ट्र)

समीक्षा
वैचारिकी

अनुभूतियों के आकाश में कल्पना की उड़ान

■ भरत प्रसाद

कवि, आलोचक और साहित्य-चिंतक गोबिन्द प्रसाद अपनी सतल सृजन साधना के लिए जाने जाते हैं। कविता और आलोचना उनके लिए लेखन का क्षेत्र नहीं, बल्कि जीवन की आधारभूमि है। कविता जहाँ उनके व्यक्तित्व में रची बसी है, उन्हें निर्मित करती है, उन्हें सँवारती और गढ़ती है, वहीं आलोचना समय, साहित्य और खुद अपने प्रति भी तटस्थ दृष्टिकोण से देखने के लिए प्रेरित करती है। 'कविता के सम्मुख' एक ऐसी आलोचना-कृति है, जिसमें उनके सृजनधर्मी आलोचक का एहसास मिलता है। बिल्कुल अपने ही अंदाज में समकालीन कविता पर और स्वतंत्र भारत के बाद की हिंदी कविता के हस्ताक्षरों पर किया गया उनका साहसिक चिंतन आलोचना के नये आयाम का स्पर्श करता है। इसमें नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ सिंह पर की गई टिप्पणियाँ अनुभूति के आत्ममंथन और साहासिक आत्मविश्वास के उद्वेलन का परिणाम कही जा सकती हैं । विशुद्ध वैचारिक स्तर पर गोबिंद प्रसाद की यह पहली पुस्तक है- 'आलाप और अन्तरंग'। यह विधाओं का अतिक्रमण करती हुई पुस्तक है, क्योंकि यह न तो आलोचना है, न तो डायरी है और न ही कोई अन्य काव्येत्तर विधा। इसमें गोबिंद प्रसाद एक सजग आत्म चैतन्य, अध्ययनशील और मौलिक निष्कर्षों को अंजाम देने वाले सर्जक दिखाई देते हैं। साहित्य, संगीत, कला, भाषा ऐसा शायद ही कोई पक्ष हो, जो उनके चौराहे पर खड़े विचारक-व्यक्तित्व से छूट गया हो। एक उन्मेष की उद्दाम ध्वनि बनकर गूँजता है गोबिंद प्रसाद का व्यक्तित्व। अभी तक वे जो हैं, उसको तोड़ने की कोशिश, उससे बाहर निकलने की जद्दोजहद और सर्वथा नये ढंग से खुद को परिभाषित करने का संकल्प इस पुस्तक की आत्मा में रचा बसा है। मौलिक अनुभूतियाँ नयी भाषा, नये शिल्प और अभिव्यक्ति के नये रुख की अनिवार्यतः तलाश करती हैं। परम्परागत ढाँचे में मानो मौलिक अनुभूतियों के दम घुटते हैं या यों कहें रचनाकार या विचारक के नवोन्मेषकारी भाव अभिव्यक्ति के लिए हर स्तर पर नयेपन की माँग करते हैं।

गोबिंद प्रसाद सर्वथा नचीनतम अभिव्यक्ति ही करते हों, ऐसा नहीं है क्योंकि उन्होंने भी व्यापक अध्ययन से ही अपने चिन्तन को समृद्ध किया है। जिन विचारों से, तथ्यों से और निष्कर्षों से वे खुद संतुष्ट हुए हैं, उसकी अभिव्यक्ति करने में और उसे खुलकर स्वीकार करने में उन्होंने तनिक भी संकोच नहीं किया है। वे असहमतियाँ प्रकट करते हैं तो गहरे साहित्यिक विवेक के साथ ही और बिना तर्क के अपनी असहमतियाँ पाठकों के सामने सार्वजनिक नहीं करते। मिर्ज़ा ग़ालिब से अज्ञेय असहमत हुए तो गोबिंद प्रसाद अज्ञेय की इस असहमति से असहमत हैं; साथ ही ग़ालिब की संवेदना के पक्ष में खड़े होते हुए उनकी ऐसी व्याख्या करते हैं जिसे शायद अज्ञेय भी नहीं समझ पाये हैं। निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोबिंद प्रसाद गज़ल के फन के शोधक, अन्वेषक, व्याख्याकार और एक हद तक भक्त भी नज़र आते हैं। इस पुस्तक में नज़्म, गज़ल और उर्दू की शेरो-शायरी के अनेक अमिट हस्ताक्षर सम्मानित होते हुए देखे जा सकते हैं। यह पाठकों की प्रशंसा लूटने के लिये या फिर अपना प्रभाव जमाने के लिए गोबिंद प्रसाद ने नहीं किया है, बल्कि अपने मन में उठती, मचलती, घुमड़ती और उद्वेलित होती ताजा भावनाओं को पुष्ट करने के लिए, उन्हें खोलने के लिए उन उदाहरणों का प्रयोग उन्होंने किया।

उनकी सर्वाधिक टिप्पणियाँ साहित्य और सृजन को लेकर ही हैं। ऐसा नहीं है कि ये टिप्पणियाँ इतनी मौलिक हैं जो पहले किसी-साहित्य-चिंतक या आलोचक के द्वारा न कही गयी हों, किन्तु यह अवश्य है कि गोबिंद प्रसाद अपना निष्कर्ष अपने ही अंदाज में प्रस्तुत करते हैं और वह नितान्त मौलिक न होकर भी मौलिक होने का एहसास देता है। कविता में लय, संगीत, ध्वनि, ताल का सदियों से चिरस्थायी महत्त्व रहा है और रहेगा

आलाप और अन्तरंग
गोबिंद प्रसाद
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली प्रा.लि.
मूल्य : 200/

एक कहानी संग्रह, एक कविता संकलन के साथ आलेख और स्तंभ की दो पुस्तकें प्रकाशित। कविताएँ बांग्ला और अंग्रेजी में अनुदित। कई वर्षों से नेहू मे अध्यापन।
संपर्क : 09863076138
ईमेल : deshdhar@gmail.com

भी। गोबिंद प्रसाद ने कविता के इन प्राण-तत्त्वों को पूरे बल के साथ पुनर्स्थापित किया है। यदि उन सारे निष्कर्षों को एक साथ रख दिया जाए तो एक नया आयाम बनते हुए देखा जा सकता है। निराला, त्रिलोचन, मुक्तिबोध ऐसे रचनाकार हुए हैं, जिन्होंने सिर्फ लय, ताल और संगीत को कविता की अन्तरात्मा में पिरोया बल्कि आने वाले भविष्य के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया। गोबिंद प्रसाद मानो लय, धुन, और संगीत के महीन तारों से रचे-बुने हुए हों। वे अतिरिक्तवत, भावुक और संवेदनशील हैं, कविता के इस पक्ष को लेकर। यह बात और है कि वे समकालीन गद्य-कविता में निरंतर मिटते हुए उन मौलिक तत्त्वों की पुनर्स्थापना नहीं कर पाते। वे स्वयं समकालीन कविता के जिम्मेदार रचनाकार हैं और उनकी भूमिका अपने समय की संकटग्रस्त कविता के प्रति अनिवार्यतः बनती है, किन्तु 'आलाप और अन्तरंग' इस महती दायित्व से कुछ बचता हुआ दिखाई देता है।

इस पुस्तक में लेखक अनुभूतियों के आकाश में समर्थ कल्पना के सहारे इतनी दूर तक उड़ान भरता है कि वह गूढ और रहस्यमय भी होता चला जाता है। अर्थ समझने के बने-बनाये ढाँचे के अनुसार गोबिंद प्रसाद के कथ्य को समझा ही नहीं जा सकता है क्योंकि वे अपने पाठक से बहुत गहरे साहित्य संस्कार की माँग करते हैं और लीक से हटकर सोचने, संवेदनशील रहने तथा साहसिक कल्पनाशीलता की शर्त रखते हैं। चिन्तन की गहराईयों में उतरते समय वे थकने, सुस्ताने या हार जाने का आकाश नहीं छोड़ते। एक प्रकार से अभिनव-चिन्तन के पक्के, धुनी व्यक्तित्व हैं गोबिंद प्रसाद। हिंदी के आधुनिक कवियों और लेखकों पर उन्होंने पूरे अधिकार के साथ अपने फैसले दिये हैं। विशेष रूप से त्रिलोचन, अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय और नागार्जुन को लेकर। 'कविता के सम्मुख' में बहुत कुछ कहते हुए भी मानो बहुत कुछ छूट गया, जिसे पूरा करने की लालसा यहाँ उछलती-मचलती नज़र आती है। उनके निष्कर्षों में स्पष्टता है। वाक्य छोटे हैं लेकिन अपने अंदाज में बेहद काव्यात्मक और ताजातरीन। अज्ञेय और शमशेर बहादुर सिंह दोनों गोबिंद प्रसाद के सर्जक के सर्वाधिक निकट दिखायी देते हैं। अथाह आत्मविश्वास वे नागार्जुन के प्रति भी प्रकट करते हैं, त्रिलोचन के प्रति भी; किन्तु उनके रचनाकार की संगति जिनके साथ सर्वाधिक बैठती है वे अज्ञेय, शमशेर और रघुवीर सहाय हैं।

फ़ैज अहमद फ़ैज, इकबाल, ग़ालिब, नईम जैसे नामचीन हस्ताक्षरों ने कविता के फ़न की नई-नई दिशाओं का निर्माण किया। गोबिंद प्रसाद हिंदी के रचनाकार होकर भी पूरी हिम्मत और आत्मविश्वास के साथ हिंदीतर साहित्य की उस दुनिया में गोता लगाते हैं और नये-नये तथ्यों एंव विचारों के मोती लेकर ही बाहर आते हैं। यहाँ तक कि एक-एक शब्द पर उनकी गहरी रुचि बनी रहती है। चिन्तन करते समय वे अपने-आप को छूट नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि साहित्य का आम पाठक शब्द और अर्थ के बीच, भाव व विचार के मध्य तत्त्व के ऐसे महीन तारों का ज्ञान प्राप्त करता है जो साधारण ज्ञान या अध्ययन से संभव नहीं होता। इस पुस्तक की ताकत न सिर्फ़ लेखक के द्वारा बहुमुखी बेचैनी के अंदाज में बिखेर दी

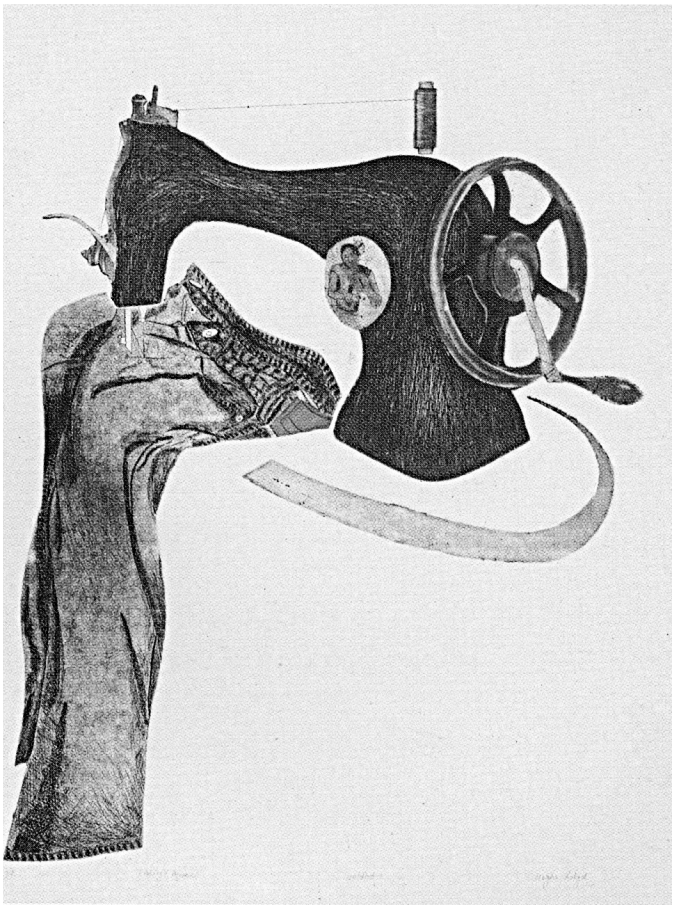

■ *मेधा कटियाल का ईचिगं*

गई चिन्तन-रश्मियाँ हैं, बल्कि भाषा की ऐसी संभावना का द्वार गोबिंद प्रसाद ने खोला है जो कि आगे उनसे और बेहतर होने की पुख्ता उम्मीद जगाता है। आश्चर्यजनक रूप से गोबिंद प्रसाद का लेखक अलक्षित रह जाने को बाध्य करता है।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो गोबिंद प्रसाद अपनी परिभाषा देते हुए भी उससे अलग हटकर अपने बारे में सोचने के लिए विवश करते हैं। वे कवि हैं, समकालीन रचनाशीलता के समीक्षक हैं, संगति के मौलिक पारखी हैं किन्तु इन सबसे जो अलग और खास है कि वे एहसास के नये-नये तन्तुओं से विचार करने के मजबूत धागों से और प्रकृति के द्वारा मिले हुए रहस्यमय रसों से सजे, भरे हुए व्यक्ति हैं। नई राहों पर चलने का साहस, नई बात कहने की ललक और साहित्य को कुछ नया दे पाने की आकण्ठ बेचैनी ने ही गोबिंद प्रसाद से 'आलाप और अंतरंग' लिखवाया है।

समीक्षा

स्मरण

लुप्त होती मानवता की तलाश

■ तरसेम गुजराल

इन्सानियत, मनुष्यता, मनुष्य का मनुष्य के प्रति मानवीय व्यवहार। यही तलाश रही सआदत हसन मंटो की उम्र भर। मजहब, रंग, नस्ल, जाति इन सबसे परे इन्सान की इन्सानियत। भविष्य दृष्टा मंटो के लिए साहित्य की कसौटी मानवीय संवेदनशीलता की कसौटी है। निजाम कोई भी हो, इन्सानियत को कुचल डालता है। 'एक ख़त' कहानी में कहा गया 'तुमने बिल्कुल सही कहा है, तुम दर्द-भरा दिल रखते हो हालांकि इसको अच्छा नहीं समझते।' मैं इसको अच्छा क्यों नहीं समझता? इस सवाल का जवाब इंसानियत को कुचलने वाले हिन्दुस्तान का निजाम है, जिसमें लोगों की जवानी पर बुढ़ापे की मोहर लगा दी जाती है। ('मंटो की सदी' पृष्ठ-144)

निर्धनता मानवता के लिए अभिशाप है परंतु मानसिक दरिद्रता उससे भी बड़ा अभिशाप। इसी कहानी में कहते हैं-

'कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपने एहसास को दूसरों की जबान में बयान करके अपना सीना खाली करना चाहते हैं। ये लोग दिमाग़ से कोरे हैं और मुझे उन पर तरस आता है। यह दिमागी गरीबी, माली, मुफलिसी से ज्यादा तकलीफदेह है। मैं माली मुफलिस हूँ, मगर खुदा का शुक्र है, जेहनी मुफलिस नहीं हूँ, वरना मेरी मुसीबतों की कोई हद न होती। मुझे यह कितना बड़ा इत्मीनान है कि मैं जो कुछ महसूस करता हूँ, वही जबान से बयान कर लेता हूँ।'

मंटो की कहानियाँ मनुष्य, समाज, मजहब, नैतिकता निजाम के लिए विशेष सन्देश देती हैं। वह बड़े स्वाभाविक कथाकार हैं, इसलिए सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण उनकी कहानियों का एक हिस्सा होकर मनुष्य की रूह की खुराक बन जाता है। निम्नवर्गीय मेहनतकश और हाशिए पर फेंके हुए लोग, वेश्याएं, दलाल, तांगा चलाने वाले, पाखंडों की रेत के नीचे स्त्री-पुरूष सभी के मनोविज्ञान, सभी की सामाजिक स्थिति, सभी का एक्स-रे मंटों की कलम से जिंदा हुआ है। मंटो ने साहित्य सम्बंधी धारणा अपने ढंग से व्यक्त की है- 'अदब या तो अदब है, वरना एक बहुत बड़ी बेअदबी। जेवर या तो जेवर है, वरना बहुत ही बदनुमा शै है। अदब और गैर अदब, जेवर और गैर-जेवर में कोई दरम्यानी इलाका नहीं है। यह जमाना नये दर्दों और नयी टीसों का जमाना है। लिखने वाले लिख रहे हैं- नया अदब, जबान वही है। सिर्फ कहना बदल गया है।' मंटो का लहजा मनुष्य की विद्रोह भरी आत्मा को लफ़्ज देने का था।

रवीन्द्र कालिया ने इस किताब को सही नाम दिया है 'मंटो की सदी'। उन्होंने मंटो को इस उप-महाद्वीप के निराले कथाकार कहा। वैसे तो मंटो उर्दू के अफसानानिगार थे। मगर हिन्दी में भी कम लोकप्रिय नहीं थे। आने वाली नस्लों ने मंटो को खूब पढ़ा। मंटो विश्व के उन चंद। अफसाननिगारों में शुमार किये जाते हैं, जिन्होंने केवल कहानी विधा के दम पर अदब में इतना बड़ा मुकाम हासिल किया। इस दृष्टि से वह चेखव, मोपासॉ, ओ. हेनरी की कतार में शामिल किये जा सकते हैं। (भूमिका से)

मंटो अपने जमाने की कथित नैतिकता को खण्ड-खण्ड करने के लिए यथार्थ का सहारा लेते हैं। उन्हें नैतिकता-भ्रष्ट और अश्लील लेखक कहा गया। उनकी छह कहानियों पर मुकदमें चले ('ठंडा गोश्त', 'बू', 'धुआँ', 'खोल दो', 'काली शलवार', 'उपर नीचे दरम्यान') सम्मन जारी किये गये, अर्दली की बुलाहाट का इंतजार करने को कहा गया। जिल्लत, शंका, इलजामतराशी, क्या नहीं हुआ। मंटो तो कथित नैतिकता के बखिए उधेड़ रहे थे। उनके पास वेश्यावृत्ति, दौलत और मजहब की सांठ-गांठ, गैर इन्सानी सलूक इन सबके प्रति तीखा प्रतिरोध था। यही प्रतिरोध उनके अफसानों की जात है। वह साफ कहते हैं-

''अगर आप इन अफसानों को बर्दाश्त नहीं

मंटो की सदी
संपादक : रवीन्द्र कालिया
सहायक सम्पादक : कुणाल सिंह
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
मूल्य : 350/

चार उपन्यास, पांच कहानी संग्रह तीन कविता संग्रह, पंद्रह अनुवाद की किताबें, दस संपादित पुस्तकें। रिटायर्ड होकर पूर्णतयाः स्वतंत्र लेखन। जालंधर में रहते हैं।
संपर्क : 09463632855

कर सकते तो इसका मतलब ये हैं कि जमाना नाकाबिले बर्दाश्त है। शराबी होने को मेरे नाम से सम्बद्ध किया जाता है।'' उनके मुताबिक एक कलाकार को कठघरें में खड़ा कर जलील करने की जगह वे हालात क्यों नहीं खत्म किये जाते जो ऐसे साहित्य को जन्म देते हैं। जिन हालात से लेखक भावनात्मक दंश झेलता रहता है- 'जो लोग अश्लील साहित्य का या जो कुछ भी ये है, खात्मा कर देना चाहते हैं तो सही रास्ता यह है कि उन हालात का खात्मा कर दिया जाए जो इस साहित्य के प्रेरक है।'

कहानी 'खोल दो' की बेहोश सकीना को अस्पताल ले जाया जाता है। डाक्टर कहता है 'कमरे की खिड़की खोल दो'। सकीना शलवार का कमरबंद खोल देती है' यह अश्लीलता का चित्रांकन है या सामाजिक त्रासदी की विभिषिका का जिसने चीजों के अर्थ बदल कर रख दिये हैं। मजहब के आधार पर जातीय नफरत के तहत बर्बरता का वह प्रारूप जो बलात्कार कर स्त्री की अस्मिता, मानवीयता कुचल डालता है, का स्पष्ट चित्रांकन यदि अश्लीलता है तो वह बर्बरता जो कोमल हृदय को तबाह कर देती है अश्लीलता नहीं है?

क्या मंटो इन और ऐसे अन्य वाहियात आरोप जो उनके जीवनकाल में आलोचक लगा रहे थे, जिनकी आवाज और मकसद उनकी मृत्यु के बाद बदल गया, ऐसे परेशान नहीं थे?...'आप पर इल्ज़ाम है' के तहत मंटो ने दर्ज किया है-

'आखिर एक दिन चौंका क्योंकि जो रुपया बम्बई से अपने साथ लाया था, कुछ तो घर में और कुछ घर से दूर क्लिफ्टन बार में खत्म हो चुका था - अब मुझे कतई तौर पर मालूम हो गया कि मैं लाहौर में हूँ जहाँ कभी कभी अपने मुकदमों के सिलसिले में आया करता था और करनाल शॉप से बहुत-सी खूबसूरत चप्पलें खरीदकर अपने साथ ले जाया करता था।' इसी सन्दर्भ में आगे चल कर लिखते हैं-

हमने दो-तीन पेशियां इसी तरह भुगतीं, मौसम जालियाना हद तक गर्म हो चुका था लेकिन कहरे दरवेश, जाते दरवेश 'आवाज़ पड़ने तक' अदालत के बाहर खड़े रहते। क्योंकि डर लगा रहता कि अगर हम इधर-उधर हो गये तो मजिस्ट्रेट का कहर हम पर गिर पड़ेगा। शुरू में ही उनका रवैया बहुत सख्त था। ऐसा महसूस होता था कि वह पहले से ही अपने मन में हमारे खिलाफ फैसला कर चुके हैं।

कानून के कर्मसिद्ध रखवाले समाज के दबे कुचले वर्ग को इतना नहीं जानते थे, जितना मंटो जानते थे। क्या नैतिकता के पैरोकार (आज भी) स्त्री जीवन की उन कठिनाइयों का रूप समझते हैं जिन से उनकी तकदीर कथित रूप से अश्लील हो जाती है? मंटो ही जोर देकर कह सकते हैं- 'हर औरत वेश्या नहीं होती, लेकिन हर वेश्या औरत होती है।'

कृश्न चन्दर ने मंटो के स्त्री विषयक विचारों पर टिप्पणी की है- 'वह औरत की इज्जत का, उसके सतीत्व का और उसके घरेलूपन का जितना कायल है, कोई दूसरा मुश्किल से होगा। इसलिए जब वह औरत की इज्जत को जाते हुए देखता है, उसे अपना सतीत्व खोते देखता है, उसके घरेलूपन को गिरते हुए देखता है तो वह बेकरार हो जाता है, और बेताब होकर जानना चाहता है कि ऐसा क्यों होता है और जब वह हर बार अपने निरीक्षण को काम में लाकर एक ही सिलसिले को, एक ही क्रम को, समाज की एक ही व्यवस्था को देखता है तो गुस्से में आकर उसे थप्पड़ मारना चाहता है। मंटो अपील का कायल नहीं, वह डराने और थप्पड़ मारने का कायल ही है। (वही पृ.सं. 27)

क्या यह मंटो की यन्त्रणाप्रियता है?

'मैं कौन हूँ?' 'मैं कहाँ हूँ?' 'मैं क्यों हूँ?' जैसे सवाल अक्सर बड़े लेखकों ने खुद से किये हैं और अपनी प्राथमिकता के हिसाब से जवाब ढूंढने की कोशिश की है। कबीर ने बिल्कुल ठीक कहा- 'आत्मज्ञान बिना जग झूठा, क्या मथुरा क्या काशी।' मार्क्स ने खोज लिया था कि ज्यों-ज्यों वस्तु संसार की कीमत बढ़ती चली जाती है त्यों-त्यों मानवीय संसार की कीमत कम होती चली जाती है।

मंटो ने बदले हुए हालात में कड़वी सच्चाइयों का सामना कुछ इस तरह किया - 'आप मुझे कहानीकार की हैसियत से जानते हैं और अदालतें एक अश्लील लेखक की हैसियत से, कभी हुकूमते कम्यूनिस्ट कहती है और कभी मुल्क का बहुत बड़ा अदीब, कभी मेरे लिए रोजी के दरवाजे बंद किये जाते हैं कभी खोल दिये जाते हैं। कभी मुझे गैर नगरी इंसान करार देकर मकान बाहर का हुक्म दिया जाता है और कभी मौज में आकर 'मकान अंदर' कर दिया जाता है- मैं पहले भी सोचता था और अब भी सोचता हूँ कि मैं क्या हूँ और इस मुल्क में, जिसे दुनिया की सबसे बड़ी इस्लामी सल्तनत कहा जाता है, मेरी क्या जगह है, मेरी क्या जरूरत है।' उस इस्लामी सल्तनत में उनकी रूह कितनी बेचैन रही है, इसका भी आत्म साक्ष्य है-

'आप इसे कहानी कह लीजिए, मगर मेरे लिए यह एक कड़वी सच्चाई है कि मैं अभी तक अपने लिए अपने वतन में, जिसे पाकिस्तान कहते हैं और जो मुझे बहुत अजीज हैं अपना सही मकाम तलाश नहीं कर सका यही वजह है कि मेरी यह बेचैन रहती है, यही वजह है कि मैं कभी पागलखाने और कभी अस्पताल में होता हूँ।'

सत्ता के प्रपंच में एक संवेदनशील व्यक्ति की ही गुजर नहीं। मंटो तो संवेदनशील इन्सान ही नहीं युगदृष्टा और युग की पीड़ा का जहर पीने वाले कथाकार थे। वे जो खुद को तबाह कर ताउम्र रचना धर्मिता में डूबे रहते हैं। उनके प्रति एक संगदिल समाज के

तौर पर हमारा व्यवहार क्या होता है? कृशन चन्दर की आवाज से अपनी आवाज मिलाते हुए कहा जा सकता है- 'यह कोई नयी बात नहीं। हमने गालिब के साथ यही किया था, प्रेमचन्द के साथ यही किया था, हसरत के साथ यही किया था, और आज मंटो के साथ यही सलूक करेंगे, क्योंकि मंटो कोई उनसे बड़ा साहित्यकार नहीं था, जिसके लिए हम अपने पांच हजार साल की संस्कृति की पुरानी परम्परा को तोड़ दें। हम इन्सानों के नहीं मकबरों के पुजारी है।' एक लेखक के कृतित्व से कला के सौदागर लाखों पहले बनाते है। इस मुनाफाखोर व्यवस्था में रचियता को उसके काम का दसवां क्या, सौवां या फिर हजारवां अंश भी प्राप्त नहीं होता। इसी बात को लक्ष्य करते हुए वह कहते है- 'आज दिल्ली में मिर्जा ग़ालिब पिक्चर चल रही है। इस तस्वीर की कहानी इसी दिल्ली में, मोरी गेट में बैठ कर मंटो ने लिखी थी। एक दिन हम मंटो की तस्वीर भी बनायेगें और उससे लाखों रूपये कमायेंगे। जिस तरह आज हम मंटो की किताबों के जाली एडीशन हिन्दुस्तान में छाप-छाप कर रूपये कमा रहे हैं। वे रूपये, जिनकी मंटो को अपनी जिन्दगी में सख्त जरूरत थीं। (पृ.सं. 31)

देवेन्द्र इस्सर ने 'वह बड़ा अफ़सानिगार था या खुदा' लेख में मंटो की विभाजन की कहानियों की जगह मनुष्य होने के अर्थ गुम होते चले जाने को ज्यादा जगह दी है। उनके अनुसार मंटो के सृजनात्मक जेहन और सृजन को विभाजन के देशकाल में सीमित कर दिया गया- जबकि मंटो इससे बहुत आगे मनुष्य होने के अर्थ के फना होने की कहानियाँ लिख रहा था।' दो विश्वयुद्धों के विनाश, फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट यातनागृहों हीरोशिमा दंगों और वैश्विक आतंकवाद से गुजरने के बाद मनुष्य का भविष्य क्या है? नई सदी में मनुष्य एक बार फिर विनाश के कगार पर खड़ा है--जब मनुष्य की जीवन शक्ति पक्षाघात से ग्रस्त हो जाती है, जब जेहनी सवाल से मनुष्य गुजरता हे, जब मूल्यों के पराजय की मंजिल आ जाती है, जहाँ शिव की अशिष्ट सीमाएँ मिट जाती हैं (खोल दो) तो फिर मनुष्य होने का क्या अर्थ रह जाता है। युद्ध के बारे में कामू ने कहा था- 'यदि हिंसा को प्रोत्साहित किया जाए, तो आदमी का व्यक्तित्व खंडित होता है' जिन्दगी के सामने मौत एक ठोस दीवार की तरह सीना तान कर खड़ी हो जाती है। यह भी माना कि युद्ध हो तो इसे एक बीमारी की तरह स्वीकारना होगा और इन तमाम स्वीकृतियों के बावजूद जिन्दा रहने के लिए किसी उद्देश्य की खोज निकालना होगा।

देवेन्द्र इस्सर ने अपनी धारणा को विकसित करते हुए मंटो की कहानियों के संदर्भ में कहा- 'स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी विकास यात्रा में इस मोड़ पर आ खड़ा हुआ है जहाँ उसके मनुष्य होने पर ही प्रश्नचिन्ह लग गया है, मनुष्य का असली स्वरूप क्या है? वह देवता स्वरूप है या दानव प्रवृत्ति वाला है? वह अनादि पाप से ग्रस्त है या वह अपनी प्रवृत्ति का निर्माण स्वयं करता है? नियति तथा इच्छाशक्ति के द्वन्द्व में सामाजिक परिवेश और भाग्य रेखा की क्या भूमिका है? वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी है या कोई तुच्छ व्यक्ति? पशु है या मात्र शून्य? ये सब मंटो की कहानियों में दिखायी देते हैं।'

नैतिकतावादियों ने मनुष्य के विधेयक को ही चुना परन्तु क्या निषेध व्यक्ति के स्वभाव में नहीं छुपा हुआ है? कामू ने निषेध और विधेयक को एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह सामने रखा। मंटो की कहानियों को 'नान बीइंग' के अस्तित्ववादी सवाल से परखा गया और कुलवंत कौर की कामुकता तथा ईर्ष्या की 'बीइंग' को बहाल करने में असफल माना गया। मंटो अपने सृजन को इन्सानियत की लौ में जिस तरह रखते हैं वह मानवीय गरिमा को बचा ले जाते हैं चाहे जहन, पर सवालिया निशान छोड़कर ही सही, कहानी 'स्वराज के लिए' के गुलाम अली का स्वर मंटो का ही स्वर नहीं है जो इंसान इंसान नहीं रहने देना चाहता है?

नीलाभ ने 'आज भी प्रासंगिक हैं मंटो' लेख में मंटो की कहानियों के समाज और व्यक्ति के आपसी रिश्तों को बड़े गौर से देखा है। कहते हैं- 'मंटो की कहानियों के सम्बन्ध में एक और बात, जो बार-बार उभर कर सामने आती है, वह है समाज और व्यक्ति के आपसी रिश्तों, उनके परस्पर टकराव के सूक्ष्म चित्रण, अपनी सारी समाजपरकता और सौदेश्यता के बावजूद मंटो 'व्यक्ति' का सबसे बड़ा हिमायती है। जहाँ वह व्यक्ति के रूप में आदमी द्वारा समाज पर किये गऐ हस्तक्षेपों के प्रति ग़ाफिल नहीं है, वहीं वह उन असहज दबावों के भी खिलाफ है, जो समाज की ओर से व्यक्ति को सहने पड़ते हैं। समाज द्वारा व्यक्ति की आजादी के मूल अधिकारों के हनन को मंटो एक जुर्म समझता है, उसी तरह जैसे व्यक्ति द्वारा जनता के शोषण को। नीलाभ ने इसके उदाहरण के लिए मंटो की दो कहानियों 'नंगी आवाजें' ओर 'स्वराज्य के लिए' को चुना है। उनके अनुसार मंटो की धारणायें कितनी सही थी, वह आजादी के इन पच्चीस वर्षों में गांधीवाद पर बहस नहीं करती वरना उसे प्रतीक रूप में लेकर वह उन सारे वादों पर भी चोट करती है जो आदमी को नेक काम करने के लिए मदारी का चोला पहना देना चाहते हैं।

मंटो ने सियासत के ढोंग और गैर जिम्मेदाराना व्यवहार पर बार बार हमले किये। एक जगह कहा - 'मेरे समाज में बहुत सी चीजें और बातें ऊपर की है', मैं अमरीका की हवस और साम्राज्यवादी रुझान समझ सकता हूँ, मुझे खस के हथौड़े और उसकी दराती के निशान का असली मतलब समझ में आता है, लेकिन यहाँ मेरे मुल्क में जो कुछ हो रहा है, मेरी समझ और सोच से ऊपर की बात है, हो सकता है जो कुछ आज मेरी नजरों के सामने हो रहा है, बहुत 'ऊँचा हो'। लेकिन यह भी हो सकता है कि बहुत नीचा हो। बहरहाल मुझे इस बात का हमेशा अफसोस रहेगा कि मुझे समझने वाला कोई नहीं मिला।'

'मंटो की सदी' में, 'सआदत हसन की निगाह में मंटो' का संस्मरण संकलित है। उसमें मंटो ने बताया कि यह वैशाखानन्दन (मंटो) कहानीकार कैसे बना? कहते है, कि लेखक रचनाकार बड़े लम्बे-चौड़े लेख लिखते है, अपने व्यक्तित्व का प्रमाण देते हैं, शोयेनहावर, फ्रायड, हीगल, नीत्से, मार्क्स का उल्लेख करते हैं, मगर वास्तविकता से कोसों दूर रहते हैं। मंटो का कथानक दो विरोधी तत्वों के संघर्ष का परिणाम है। उसके पिता, खुदा उन्हें माफ़ करें, बड़े कठोर थे और उसकी माँ अत्यन्त दयावान। इन दोनों पाटों के बीच पिसकर यह गेहूं का दाना किस रूप में बाहर निकला होगा, इसका अनुमान आप लगा सकते हैं।

इस कथन से जाहिर है कि मंटो महानता बोध से मुक्त हैं। कथित बौद्धिकता का वाग्जाल उन्हें पसंद नहीं और कहानियां मुहब्बत और नफरत, विनम्रता और कठोरता, विष और अमृत के सम्मिलन की ही उपज है। उन्हीं की कलम से जानें- हम सातवें आसमान से बोल रहे हैं। निचाइयों से सूचना मिली है कि वहाँ दो निचाइयों में रोकर और गिड़गिड़ाकर दुआएँ माँगी जा रही हैं कि खुदा उनको अपने बनाये विनाशकारी बमों से निजात दिलाए। इसमें कोई शक नहीं कि वह बड़ा दयावान है उसके सामने माँगी हुई दुआ कभी खाली नहीं जाती। लेकिन निचाइयों की, इन दो निचाइयों (भारत और पाकिस्तान) के बाशिन्दों के इमानो-ईकान की पुख्तगी का यह आलम है कि हिफाजत के लिए एक अर्थ आसमान की तरफ उठाते हैं और दूसरे हाथ से जमीन में गड्ढें और सुरंगें खोदते हैं। (डॉ. जानकी प्रसाद शर्मा का अनुवाद)

'मंटो की सदी' में संग्रहित अजय तिवारी के लेख का शीर्षक है 'मानवतावादी कथाकार मंटो'। कहते है कि मंटो आर्थिक सम्बन्धों के प्रति भी सचेत हैं और सामाजिक ऐतिहासिक सन्दर्भ बिन्दु के प्रति भी। इसकी झलक बराबर उनकी रचनाओं में मिलती है। लेकिन वे जाति-धर्म-वर्ग-सम्प्रदाय-राष्ट्र-नस्ल से परे मनुष्यता की सामान्य कसौटी खोजने के प्रति सचेष्ट हैं, उसका आग्रह भी उनमें बराबर मौजूद रहता है। मंटो के समय की मची अफरा-तफरी की पकड़ के लिए वह मंटो की कहानी 'काली शलवार' के मुकदमे के दोरान मंटो के लेख 'अफसाना निगार और जिंसी मशाल' की कुछ पंक्तियाँ सामने रखते हैं, ''दुनिया एक बहुत बड़ी करवट ले रही है। हिन्दुस्तान भी, जहाँ आजादी का नन्हा-मुन्ना बच्चा गुलामी के दामन से अपने आँसू पोंछ रहा है, मिट्टी का नया घरौंदा बनाने के लिए जिद कर रहा है- मशरिकी (पूर्वी) तहजीब की चोली के बन्द कभी खोले जाते हैं, कभी बन्द किये जाते हैं, जगरिबी (पचिमी) तहजीब का गाज़ा कभी हटाया जाता है, कभी लगाया जाता है। एक अफरा-तफरी सी मची है।''

नरेन्द्र मोहन ने 'सो गये दास्तां कहते-कहते' लेख में हमीद जलाल की चंद जरूरी पंक्तियाँ दर्ज की हैं- 'उन जैसी शख्सियतों के लिए जिन्दगी और मौत के बीच का फासला बहुत ही मामूली और नामालूम होता है और यही होना भी चाहिए, क्योंकि उनकी जिन्दगी और रूह तो पहले ही उनके जिस्म से उनकी किताबों में दाखिल हो चुकी थी।'

'मंटो की सदी में' मंटो की दस कहानियां शामिल की गई हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क का सुंदर संस्मरणः मंटो-मेरा दोस्त, मेरा दुश्मन के अतिरिक्त मंटो के संस्मरण तथा जसविन्दर कोर बिन्द्रा का संस्मरण शामिल हैं। गोपीचंद नारंग, विजयमोहन सिंह, शम्मुस हक उस्मानी तथा कृष्णमोहन के लेखों में मंटो की जीवन शक्ति, कहानियों की अनेकायामी शक्ति पर बात की गई है। सम्पादक रवीन्द्र कालिया ने उर्दू हिन्दी का भेद मिटाते हुए मंटो को विश्व के गिने चुने कथाकारों में शुमार किया। मंटो की प्रासंगिकता और पूनर्मूल्यांकन का आधार उनकी मानवतावादी दृष्टि है।

समीक्षा

पर्यावरण

संतुलन बचाने की कोशिश

■ **मनोज मोहन**

जल जंगल और जमीन : उथल पुथल पर्यावरण
स्वतंत्र मिश्र
स्वराज प्रकाशन
21, अंसारी रोड़ दरियागंज,
नयी दिल्ली -110002
मूल्य : 295/

स्वतंत्र रूप से साहित्यिक पत्रकारिता। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 08506014917
ईमेल : manojmohan2010@yahoo.com

स्वतंत्र मिश्र युवा पत्रकार हैं। पत्रकारिता उनका चुनाव है। किसी मजबूरी और दबाव से परे सरकारी नौकरी के मोह से मुक्त वे पत्रकारिता की दुनिया में आए। पत्रकारिता में आना उनके लिए अपने को सामाजिक सरोकारों के तहत बचाये रखने का प्रयत्न है। पर्यावरण उनके चिंता के केंद्र में हैं, इसी का नतीजा है 'जल जंगल और ज़मीन : उलट-पलट पर्यावरण' पुस्तक का आना। हिंदी में पर्यावरण को लेकर गंभीर लेखन कम हुआ हैं। अनुपम मिश्र, राजेंद्र सिंह आदि पहले सोशल एक्टिविस्ट हैं बाद में लेखक। पर्यावरणवादी अनुपम मिश्र स्वतंत्र के आदर्श हैं। यही कारण है कि अपनी भूमिका में स्वतंत्र मिश्र कहते हैं कि - 'अनुपम जी ने मुझे तीन किताबें भेंट की थी- 'आज भी खरे हैं तालाब' 'राजस्थान की रजत बूँदें' और 'हमारा पर्यावरण'। निश्चित तौर पर इन किताबों की बड़ी भूमिका उनके लेखक बनने में रही हैं।

जल, जंगल और ज़मीन से बनते पर्यावरण संतुलन को भूमण्ड़लीकरण के फलस्वरूप बढ़ते औद्योगिकीकरण ने किस तरह असंतुलित किया हैं उस पर लेखक ने 'चाहत मुनाफा उगाने की' लेख में लिखा हैं- 'आर्थिक नीति लागू होने के लगभग तीन दशक पहले 1962 में शुरू हो चुकी हरित क्रांति ने खेती के तौर-तरीकों में अद्‌भुत बदलाव ला दिया। अब खेतों में फसल उगाने की जगह अनाज दोहन की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। अनाज दोहन की इस प्रक्रिया में खेती में प्राकृतिक खाद की जगह अब रासायनिक खाद और बहुत ही ज्यादा मात्रा में कीटनाशक का उपयोग होने लगा है। इसी मानसिकता ने नयी आर्थिक क्रांति और विश्व व्यापार संगठन के दबाव में आकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बाज़ार का हस्तक्षेप बढ़ा तो शहरीकरण की प्रक्रिया में तेजी आई। जबकि आज़ादी के पहले टैगोर जिस प्राकृतिक अवस्था का ज़िक्र करते हैं उसमें गाँव और शहरों के बीच एक सामंजस्यपूर्ण संबंध होता है। एक से भोजन, सेहत और लोग मिलते हैं। दूसरे से धन, ज्ञान और ऊर्जा का इनाम मिलता था।' लेकिन इस संतुलन को औद्योगिकीकरण ने निर्ममता से बिगाड़ कर रख दिया है।

औद्योगिकीकरण पूँजीवादी व्यवस्था की मजबूरी है। 'पर्यावरण आन्दोलन की हकीकत' लेख में स्वतंत्र कहते हैं- 'पूँजीवादी व्यवस्था विशुद्ध मुनाफे पर आधारित व्यवस्था होती है। ज्यादा से ज्यादा मुनाफा किसी भी तरीके से इसका मूलमंत्र होता है। लालच इसके खून में है और प्रतियोगिता हर पूँजीपति को लगातार हर हाल में अधिकाधिक मुनाफा कूटने की ओर धकेलती है। मुनाफे की लालसा के कारण हर पूँजीपति और पूँजीवादी देश धरती की प्राकृतिक संपदा की लूट में लगा रहता है।'

इसी प्राकृतिक संपदा की लूट के लिए 'स्पेशल इकोनॉमिक जोन एक्ट 2005' नामक खतरनाक अधिनियम को सरकार ने अपनी मंजूरी देकर पूँजीपतियों के लूट की मंशा को हकीकत का जामा पहना दिया। अब इस सेज अधिनियम के कारण उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, आंध्रप्रदेश आदि कई प्रदेशों में वहाँ के मूलवासियों के बीच विद्रोह का स्वर फूट पड़ा है। लेकिन समाज का एक वर्ग ऐसा है जो इस स्वर को दबाने में लगा है। 'उड़ीसा के अधिकार माँगते आदिवासी' लेख में लेखक इन्हीं वर्गों के लोगों के लिए कहता है- 'अफसोस तो यह है कि समाज के गरीब और मज़दूर अपनी लड़ाई के लिए जिस बौद्धिक तबके से उम्मीदें लगाये बैठे हैं- वह खुद अपनी तकलीफों से घिरा है। वस्तुतः वह इसी क्रम में जी रहा है कि चरमराती व्यवस्था में भी कुछ हासिल किया जा सकता है।' जबकि सेज के तहत हासिल ज़मीन से पूँजीपतियों का एकमात्र उद्देश्य प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर दोहन है। अभी हाल में उत्तराखण्ड में जो घटा है वह किसी प्राकृतिक आपदा के कारण न होकर मनुष्य की लालचों की वजहों से हुआ। इसी ओर इशारा 'लोगों का गुस्सा बादल की तरह फटेगा' लेख में हैं, उत्तराखण्ड की आपदा के बारे में विमर्श करते हुए इसे 'मानवीय भूल' बताया जा रहा है। इस शब्दावली को गंभीरता से समझने

की दरकार है। दरअसल ऐसा कहकर जाने-अनजाने पूँजीवादी विकास के मॉडल के अपराध को कम करने की कोशिश की जा रही है।' जबकि दूसरे लेख 'डूबता टिहरी , तैरते सवाल' भी उत्तराखण्ड को लेकर ही है, गुस्से में ये कहते हैं- 'प्राकृतिक तबाही मानव समाज की लगातार की गयी गलतियों का हिसाब सूद सहित लौटाती हैं। वगैर किसी भेदभाव के कहर ढाती है। इसलिए सभी पर डर की छाया एक-सी होती है। प्रकृति के साथ साहचर्य बिठाकर चलने से ही ऐसे खतरों को टाला जा सकता है।' इस पुस्तक में कई ऐसे लेख भी है जिन्हें संपादित किया जाना जरूरी था। 'हज़ारों करोड़ बहा दिए, गंगा फिर भी मैली', 'बाढ़, सुखाड़ और आबादी' और 'लूटने के नये बहाने' आदि लेख इस तरह के हैं। वहीं 'पानी सहेजने की कहानी', 'यज्ञ नहीं, यत्न से मिलेगा पानी', 'संसाधनों का असंतुलित दोहन, सोच का अकाल' और 'पानी की पुरानी परंपरा ही दिलाएगी राहत' जैसे लेख अनुपम मिश्र और राजेंद्र सिंह जैसे पर्यावरणवादियों के प्रति स्वतंत्र के गहरे अनुराग के प्रतिफल हैं।

'परिस्थितिकीय संतुलन के बिना विकास संभव ही नहीं है।' यह मैगसेसे पुरस्कार से सम्मानित चंडी प्रसाद भट्ट का कथन है और यह संतुलन तब तक संभव नहीं हैं जब तक भोग की अदम्य लालसाएँ और पैसों के प्रति अतृप्त लालसा बनी रहेगी। एक समय में महात्मा गांधी ने अपनी आवश्यकताओं को घटाकर आम आदमी के जीवन स्तर पर ही जाने का अभ्यास किया था। और पूँजीवादी विचार को अस्वीकृत किया था। ठीक आज अपने जीवन-स्तर को कम किये बिना हम परिस्थितिकीय संतुलन नहीं पा सकते। लेकिन पर्यावरण विद् डॉ. एम.पी. परमेश्वरण के अनुसार आज पर्यावरण चिंतन और चिंता का विषय हो गया है, क्योंकि आज थोड़े-बहुत आर्थिक लाभ के लिए एक बड़ी आबादी को उजाड़ा जा रहा है।

कुल तैतालीस छोटे-बड़े लेखों के संग्रह से बनी यह किताब 'जल जंगल और ज़मीन उलट-पुलट पर्यावरण' को विषयवार तीन हिस्सों में बाँट देना चाहिए था। साथ ही इन लेखों के नीचे वह तारीख दे देना जरूरी था, जब यह छपा था।

भारत में पर्यावरण को लेकर चिंता अभी भी एक खास फैशनेबुल वर्ग तक सीमित है। पर्यावरण को बचाने की कोशिश में किस तरह सरकारी संसाधनों का दुरुपयोग ग़ैर सरकारी संस्थानों द्वारा किया जा रहा है उस पर इस पुस्तक में लेख होना जरूरी था। पर्यावरणविद अनुपम मिश्र के इस विचार से सहमति जतानी ही होगी कि विकास के आधुनिक तरीक़े अपनाने में हमें प्रकृति की दिनचर्या और तौर-तरीक़ों को नज़रअंदाज नहीं करना होगा। अन्यथा कहर झेलने हमारी आनेवाली पीढ़ी को तैयार रहना होगा।

पर्यावरण को लेकर हिंदी में लिखी गई पुस्तकों में यह अपना एक अलग स्थान बनाएगी। इस पुस्तक के लेखक ने पर्यावरण की कई चिंताओं से पाठकों को रू-ब-रू होने का मौका दिया ।

समीक्षा
कविता

अनुभव और संवेदना की नई जलवायु

■ ओम निश्चल

''यथार्थ इन दिनों ज्यादा यथार्थ है
उसके शरीर से ज्यादा दिखाई दे रहा है उसका रक्त।''
(यथार्थ इन दिनों)

एक लंबी प्रतीक्षा के बाद आया मंगलेश डबराल का संग्रह 'नये युग में शत्रु' इस बात से प्रथमद्रष्ट्या आश्वस्त करता है कि वे कविता की क्रीज पर यथावत् टिके ही नहीं हैं बल्कि वे उसे अनुभव और संवेदना की नई जलवायु से समृद्ध भी कर रहे हैं। 'आवाज़ भी एक जगह है' के बाद समय काफी बदला। बाजार के घटाटोप और बहुराष्ट्रीय निगमों की आक्रामक पैठ ने हमारी चेतना को ढँक लिया है; सत्ता और अर्थव्यवस्था आम आदमी की नियति बदल पाने में निरुपाय दिखती है, उनकी दिलचस्पी अमीर होते जाते लोगों में है। ताकत और तकनीक के गठजोड़ ने इस दुनिया को नई गिरफ्त में लिया है। हर हाथ में इलेक्ट्रानिक गजेट्स की उपलब्धता ने संपर्क की त्वरित सुविधा के बावजूद जिस तरह का आभासी समाज रचा है उसने एक-दूसरे को अजनबी-सा बना दिया है। दुनिया अपने में खोई और मशगूल दिखती है। पारंपरिक बैंकों के दिन लद गए हैं। वे हाशिए में हैं तथा नई चाल और तकनीक के बैंक परिदृश्य पर छा गए हैं, जो कर्ज की चार्वाक परंपरा के सूत्रधार-से दिखते हैं और कर्ज-अदायगी में विफल रहने वाले किसानों को आत्महत्या की तरफ धकेल रहे हैं। आदिवासियों को खदेड़ा जा रहा है, न केवल ध्वस्त होती परिस्थितिकीय ने जीवन के लिए जरूरी प्राणवायु पर संकट पैदा किए हैं बल्कि भाषा में भी आक्सीजन लगातार घट रही है। राजनीति ने सांप्रदायिकता और धार्मिकता की बेल को सतत सींचने और संवर्धित करने का काम किया है। ऐसे में नये युग में शत्रु का कवि उस विक्षुब्ध मनःस्थिति की ओर इशारा करता है जो इसी क्रूर, अमानवीय और पूँजीवादी समय की फलश्रुति है।

मंगलेश डबराल हिंदी के उन चुनिंदा कवियों में हैं जिनकी कविताओं में जीवन के उल्लास के स्थान पर नागरिक जीवन की विफलताएं-निराशाएं व्यंजित होती हैं। 'पहाड़ पर लालटेन' शीर्षक कविता संग्रह से उन्होंने कविता की दुनिया में प्रवेश किया था। रणवीर सिंह बिष्ट के बनाए निरलंकृत आवरण के साथ संग्रह की अंतर्वस्तु से जीवन के जद्दोजहद की झलक मिलती थी। मंगलेश डबराल ने कविता में कभी नैरेटिव को जरूरत से ज्यादा तरहीज नहीं दी। जैसा उनके समकालीन विष्णु खरे देते आए हैं। बल्कि कम से कम में बात को कह देने की कला में मंगलेश डबराल को महारत है। उनकी कविता के सांचे में कभी इतनी रद्दोबदल नहीं दीख पड़ी कि उसे उनकी कविता यात्रा में एक नई विशिष्टता या मोड़ के रूप में चिन्हित किया जाए। बल्कि उनकी कविताएं इतनी सुगठित और मार्मिक लगती हैं कि वे आम आदमी की पीड़ा का काव्यात्मक आख्यान बन कर सामने आती हैं। वे यों ही नहीं कहते हैं कि ''यथार्थ इन दिनों ज्यादा यथार्थ है। उसके शरीर से ज्यादा दिखाई दे रहा है उसका रक्त।'' इस दिशा में वे रघुवीर सहाय से एक कदम आगे बढ़ते हैं जो यह कहा करते थे यथार्थ यथास्थिति नहीं।

अपने दूसरे संग्रह 'घर का रास्ता' में वे कहते हैं, ''मैं भूल नहीं जाना चाहता था घर का रास्ता'' लेकिन उनकी कविताओं से यह लगता है कि छूट गयी अतीत की दुनिया ने उनके कवि चित्त पर गहरा असर डाला है। अतीत की स्मृति के गोमुख में हमें उनकी अनेक रचनाएं ले जाती हैं। मां, पिता व बहन की स्मृति में उनकी कुछ कविताएं हमें उनके कवि की आंतरिक संगति को समझने में सहायता करती हैं। कई संगीतकारों, करुणानिधान समेत अनेक कलाकारों पर उनकी कविताएं कला और संगीत की दुनिया के दिग्गजों को दरियादिली से याद करते है। उनकी कविताओं में एक नागरिक की उदासी नजर आती है तो एक सयानी कविदृष्टि भी, जो इस जीवन संसार के बेगानेपन को लक्ष्य करती है। धीरे-धीरे राजनीति ने आम आदमी

नए युग में शत्रु
मंगलेश डबराल
राधाकृष्ण प्रकाशन
मूल्य : 195/

अत्यंत सक्रिय और गंभीर समीक्षक। समकालीन हिंदी कविता पर पैनी नज़र। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09696718182
ईमेल : omnishchal@gmail.com

के सपनों को कुचला है, उससे वह जगह छीनी है, जहां उसे एक अजीब सी राहत मिलती थी। अखबारों के पन्नों पर आम आदमी के सुख दुख की जगह राजनीति के नियामकों ने हथिया ली हैं। पहले मेज से लेकर पेज थ्री तक पसरी राजनीतिक सेलीब्रिटीज की दुनिया के आगे आम आदमी बेबस है। कारपोरेट घरानों ने पूँजी और तकनीक की दुनिया को नए सिरे से संचालित किया है। आदिवासियों, विस्थापितों, गरीब किसानों और कामगारों की आवाज़ को दबाया है। 'आदिवासी' व 'यथार्थ' जैसी कविताएं सत्ता द्वारा दबाई गयी उस बेजुबान चीख की ओर इशारा करती हैं जिसे न समाज ने सुना न शासनतंत्र ने। मनुष्य की नियति जैसे राजनीति के रहमोकरम पर टिकी है। 'हम जो देखते हैं' और 'आवाज़ भी एक जगह है' की कविताओं में वे राजनीतिक सत्ताओं के निरंकुश व्यवहार और ताकत के बलबूते मनुष्यता को पराजित करने वाली शक्तियों को संशय की दृष्टि से देखते हैं।

मंगलेश डबराल दूर से राजनीतिक कवि नहीं लगते पर उनकी कविताओं में राजनीति के गिरते मूल्यों के प्रति एक गंभीर चिंता नज़र आती है। विचारधारा उनकी कविताओं की अस्थिमज्जा में ऐसे रची बसी दिखती है जैसे फूल में सुगंध। विचारधारा की कीमत पर वे कविता के क्राफ्ट से समझौता नहीं करते बल्कि वे यह समझते हैं कि कविता अपनी अंतर्वस्तु की सघनता और कथ्य की मार्मिकता के कारण ही महान बनती है केवल विचारधारा की शक्ति के कारण नहीं। बहुत प्रतीक्षा के बाद उनका नया संग्रह 'नए युग में शत्रु' हाल ही में आया है जो उत्तर भूमंडलीकरण के पश्चात विश्व और भारत में होते परिवर्तनों, आक्रामक प्रभावों को अपनी सूक्ष्म काव्यात्मक आंखों से निहारता है। नए अर्थतंत्र और तकनीक व पूँजी के गठजोड़ से भव्य होती भौतिक दुनिया में आम आदमी किस कदर अकेला हुआ है, किस तरह वह कर्ज के मोहक जाल में बिंधा है, किसान आत्महत्या के मोड़ पर खड़े हैं, मंगलेश की कविताएं इस निर्मम होती दुनिया का बारीक जायज़ा लेती हैं।

हालांकि मंगलेश डबराल की कविता किसी राजनैतिक पाठ के लिए अनिवार्य रूप से प्रतिश्रुत नहीं दिखती तथापि उनकी तमाम कविताएं राजनीतिक पाठ के आलोक में पढ़ी जा सकती हैं। 'पृथ्वी का रफूगर' में देवीप्रसाद मिश्र ने अपने बाबा पर लिखी कविता में लिखा था, 'उसके रहते शासक यह दावा नहीं कर सकते थे कि उन्होंने देश को ठीक से चलाया।' मंगलेश की तमाम कविताएं व्यवस्था, राजनीति, गैर बराबरी, असंतुलित विकास और ऊपरी दिखावेबाजी के नेपथ्य में बजबजाते यथार्थ से मुँह फेरे गवर्नेंस पर संयत प्रतिरोध दर्ज करती हैं। ये कविताएं केवल नए युग के शत्रुओं को ही चिन्हित नहीं करती, बल्कि आधुनिक सभ्यता की पैकेजिंग के इस युग में कुछ ही दिनों बाद सूखी हुई पपड़ी जैसे विगलित सत्व और सत्य की खबर भी लेते हैं। मंगलेश डबराल की ये कविताएं भूमंडलीकरण की फलश्रुति, ताकत की दुनिया, आधुनिक सभ्यता के विकारों और तकनीक की शक्ल में छाते जा रहे नए युग के नए शत्रुओं के नवाचारों को कविता का मुद्दा बनाती हैं। जिस दौर में संवेदना का सबसे ज्यादा अवमूल्यन हो, कविता की जलवायु में भाषा की आक्सीजन लगातार घट रही हो, शब्दों की सांस उखड़ रही हो, ऐसे समय कवियों के लिए चुनौती भरे होते हैं।

कितनी बिडंबना है कि यह दौर नई सभ्यता के लिए चाहे जितना मुफीद हो, आदिवासियों, गरीबों, मजलूमों व प्राकृतिक संसाधनों के लिए संकट का समय है। अचरज नहीं, कि हमारे समय के बड़े कवियों में आज सबसे ज्यादा फिक्र पारिस्थितिकी के असंतुलन और आदिवासियों के उजड़ने को लेकर है। कुंवर नारायण अभी हाल की लिखी एक कविता में आदिवासियों की ओर से कहते हैं, 'मुझे मेरे जंगल और वीराने दो।' विनोद कुमार शुक्ल ने 'कभी के बाद अभी' में तमाम कविताएं आदिवासियों पर केंद्रित की हैं। मंगलेश भी 'आदिवासी' कविता में इसी चिंता के साथ सामने आते हैं। उनका मानना है, नदियां इनके लिए केवल नदियां नहीं, वाद्ययंत्र हैं, अरण्य इनका अध्यात्म नहीं, इनका घर है। पर आज हालत यह है कि इनके आसपास के पेड़ पत्रहीन नग्नगाछ में बदल गए हैं। उन्हें अरण्य से दूर ले जाया जा रहा है। उनके अपने कोयले और अभ्रक से दूर। वे एक बियाबान होते हरसूद में अपनी तुरही मांदर और बांसुरी जोरों से बजाने लगते हैं, शासक उन पर बंदूकें तान देते हैं।

क्या यह आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता की ओर बढ़ती हुई दुनिया इतनी असह्य हो चली है कि आज भी 'शिविर की शर्वरी हिंस्र पशुओं भरी' है। यह दौर लुटेरों, हत्यारों, बमों, मिसाइलों का है। कवि की चिंता में यथार्थ इन दिनों इससे भी भयावह यथार्थ है। जहाँ मुर्दे जीवितों से ज्यादा बोलते हुए दिखते हैं जीवितों में वह आवाज़ ही कहां? इन दिनों राजनीति जैसी है वैसी मूल्यहीन पहले कभी न थी। शासकों का व्यवहार अपनी प्रजा से कितना नकली हो चुका है। संवेदना की घड़ियॉ भी राजनीति की तुला पर तुलती हुई ठिठक जाती हैं। दंगे, सामूहिक मौतें, प्राकृतिक आपदाएं, नरसंहार--राजनीतिज्ञों के लिए इनके अलग अलग पाठ हो सकते हैं, पर कवियों के लिए नहीं। वह तो 'जागै अरु रौवै' वाले कबीर का वंशज है। 'हमारे शासक' 'यथार्थ इन दिनों', 'नए युग में शत्रु' आदि कविताओं से ऐसी ही आहट आती है। 'निरंकुशा : हि कवय :' कहते हुए प्रतिपक्ष में खड़े कवि की जैसी छवि बनती है, वैसी क्या 'निरंकुशा : हि शासकाः' से बनती है। निरंकुश होते ही शासक अपनी संवेदना खो देता है, जबकि निरंकुश होते ही कवि सच्चाई का पहरुआ बन जाता है। कबीर, निराला, मुक्तिबोध, धूमिल और अदम गोंडवी ऐसे ही निरंकुश कवियों में हैं जो किसी सत्ता की चाभी से नहीं चलते, अपनी चाल और राह खुद बनाते हैं। मंगलेश का कवि इसी चाल और राह का कवि है---अपने संयत संतप्त और अप्रतिहत स्वरों में

गुलामों, गुलामी, शासकों की निरंकुशता, प्रबंधन, तकनीक व बाजार की चाबी से चलने वाले मनुष्य की निरीहता को पहचानता हुआ।

मंगलेश डबराल का यह पांचवा संग्रह है। फिर भी कविता लिखते हुए उन्हें किराना घराने के गायक अब्दुल करीम खां की बात याद आते ही हाथ सहसा रुक जाता है जिन्होंने सातों सुर साध लेने के बारे में पूछे गए अपने शागिर्द के एक सवाल पर कहा था बेटा अभी तो केवल पंचम को थोड़ा समझ पाया हूँ और अब इस उम्र में भला क्या कर पाऊँगा। कविता सच्ची साधना मांगती है। यह किसी त्रिकाल संध्या की फसल नहीं है जिसे आज लोग फेसबुक पर आठो पहर टॉक रहे हैं। शब्दों के इस मेले में सच्ची कविता तो आज भी कहीं ठिठकी हुई है। उसे आज भी सच्चा कवि अपने करघे पर किसी एकांत में बुन रहा है। जिस तरह की शक्ति संपन्नों की यह दुनिया बन रही है, आम आदमी फिर एक बार मुहावरा बन रहा है। उस अदृश्य रुपक को भुनाने की लगातार कोशिशें चल रही हैं। वह आम आदमी जिसके लिए कभी उमाकांत मालवीय ने लिखा था, जनता की भूमिका यही जूठन से भात कुछ बिने। ऐसे समय मंगलेश जैसा कवि यही कामना करता है कि 'सोने से पहले मैं कहता हूँ/नींद मुझे दो एक ठीक-ठाक स्वप्न' (सोने से पहले) और स्पर्श की लुप्त होती चेतना पर कहता है: 'अपने भीतर जाओ और एक नमी को छुओ/देखो वह बची हुई है या नहीं इस निर्मम समय में' तथा भूमडलीकरण की खुशी से लबरेज़ मनुष्यों से कटाक्ष में कहता है : 'जब तुम बहुत कम मनुष्य रह जाओगे/ इस खेल के अंत में तुम्हें मिलेगा एक बड़ा-सा पुरस्कार।' (भूमंडलीकरण) हालांकि यहां नमी के पहले 'एक' जोड़ने से कुछ खटकता-सा प्रतीक होता है।

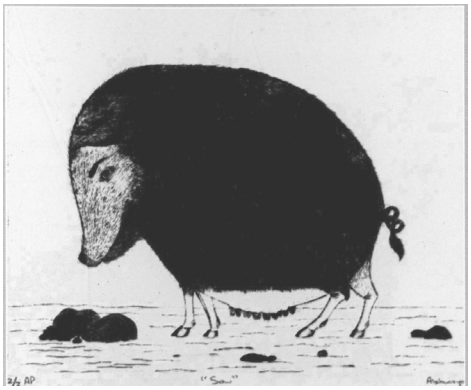

मंगलेश के यहां मनुष्यता को लगातार दुर्बल बनाती हुई सांप्रदायिकता, हिंसा और उसे एक यांत्रिक और परोपजीवी बनाती हुई ताकतों के प्रति गहरा विक्षोभ है। 'गुजरात के मृतक का बयान' अपने समय की चर्चित मार्मिक कविता यहां है तो 'अंजार', 'भूलने के विरूद्ध', 'पशु पक्षी कीट पतंग' और 'राक्षसों क्या तुम भी'। 'शहर के एकालाप' तो जैसे शहरी सभ्यता के बजबजाते नेपथ्य का अनावरण है। इससे पहले के और इस संग्रह में भी कई कविताएं कवियों कलाकारों पर हैं, करुणानिधान, शमशेर, मुक्तिबोध, मोहन थपलियाल, असद जैदी आदि को लेकर तथा कुछ कविताएं संगीत पर, रागों पर भी उपनिबद्ध हैं जिनमें मंगलेश डबराल की गहरी दिलचस्पियां रही हैं। इस संग्रह में खुशी का पाठ और प्रेम का पाठ जैसी कविताएं भी हैं पर सर्वाधिक ध्यातव्य 'दुख का पाठ' है जो संयोग से 'रोने की जगह' पर भी है। किसी शायर ने कहा था, 'घर की तामीर चाहे जैसी हो / इसमें रोने की एक जगह रखना।' आधुनिकता और तकनीक के इस चाकचिक्य में रोने की जगहें अब भला कहां बची हैं, 'ए रूम आफ वन्स ओन' तक नहीं; ऐसे में कविताएं ही हैं जो रोते हुए व्यक्ति के आंसू पोछती हैं उन्हें रोने का भी एक सही ठिकाना उपलब्ध कराती हैं।

मंगलेश डबराल की ये कविताएं लोकतंत्र की विफलता का पाठ भी निर्मित करती है जहां जीवन और खुशियां कम हैं, आपदाएं ज्यादा हैं। उनकी ही एक कविता को रूपक के रूप में स्मरण करते हुए कहें तो 'खुशी कैसा दुर्भाग्य!' और 'ताकत की दुनिया' में तो वे जिस अपरिग्रह की मिसाल सामने रखते हैं, वह निरंतर पूँजीवादी और जमाखोर होती दुनिया पर एक तमाचा है। उनकी कविता के साँचे में कोई ज्यादा तब्दीली भले नहीं आई हो पर कठिन और दुरूह होते समय के साथ उनकी कविताओं का यथार्थ उत्तरोत्तर गाढ़ा और सॉवला हुआ है। तभी तो वे कहते हैं: 'यथार्थ इन दिनों बहुत ज्यादा यथार्थ है।' यह 'वह तो यथार्थ था' से बहुत आगे का कवि-समय है।

मंगलेश की कविता हमें हमेशा इस तरह दिखती है जिसमें समय को एक रिस्ट्रासपेक्शन की तरह देखा गया होता है। जैसे एक मूवी कैमरा अतीत की धुली पुछी यादों के अंबार से कुछ सहेजने योग्य विजुअल्स टटोल रहा हो। वह किसी भी बड़ी ताकत या सत्ता के उत्पादनों को इस तरह देखती है जैसे वह उसके विरूद्ध आवाज उठाने की ताकत रखने वालों को कृतज्ञता से भर देना चाहती हो। वह उसे एक ऐसा समाज बनाने की ख्वाहिश रखने वाले तंत्र के रूप में देखती है जिसमें प्रतिकूलताओं को सहने की आदत हो, जो धारा के विरूद्ध बहने से इंकार करे। यही वजह है कि एक महानगर के भीतर उसे इतनी तरह के शहर नजर आते हैं कि उसकी निगाह अक्षरधाम जैसी खूबसूरत संरचना बनाने वालों की झोपड़ियों तक पहुँच जाती है जहां अँधेरा आबाद है। वे वीरेन डंगवाल के अंदाज में कहते है : 'जिन्होंने सालोसाल बनाया तुमको मेहनत से/उन अंधी झोपड़ियों को भी दे दो अपने कुछ बिजली के लट्टू'/तुम जो रात भर रोशनी में नहा रहे हो/ अरे अक्षरधाम के अड़ियल टट्टू। मंगलेश डबराल की कविताओं से गुजरना उस यातना भरे अवसाद से गुजरना है जिससे इस महादेश की ज्यादातर जनता गुज़रती आई है।

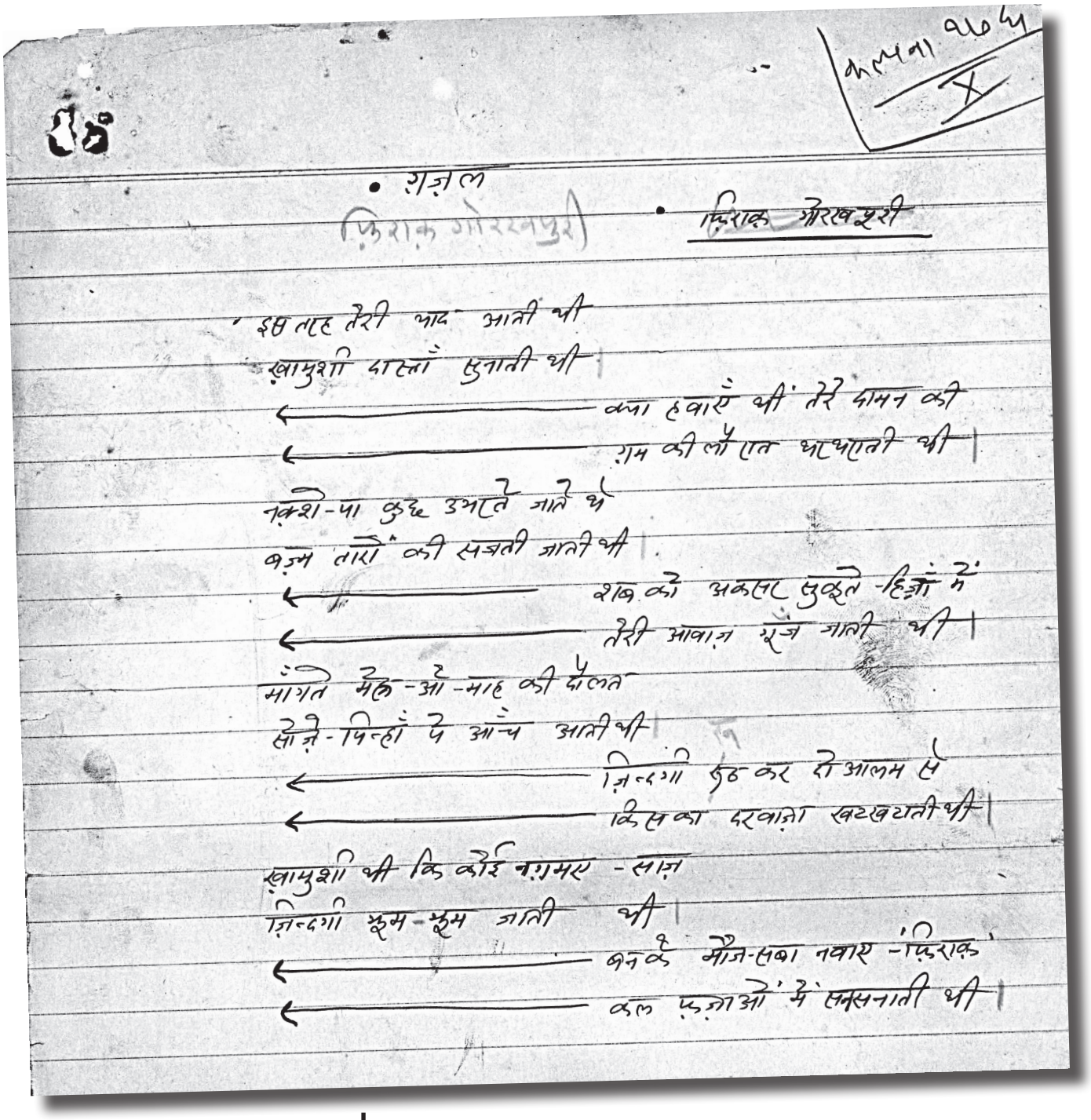

• ग़ज़ल

फ़िराक़ गोरखपुरी • फ़िराक़ गोरखपुरी

इस तरह तेरी याद आती थी
ख़ामुशी दास्ताँ सुनाती थी
क्या हवाएँ थीं तेरे दामन की
रूह की लौ लपक लपकाती थी
नक़्शे-पा कुछ उभरते जाते थे
बज़्म तारों की सजती जाती थी
शब को अक्सर सुलगते-होंटों में
तेरी आवाज़ गूँज जाती थी
माँगते मेंह-ओ-माह की दौलत
सोने-पिन्हाँ पे आँच आती थी
ज़िन्दगी कुछ कर दो आलम से
किस का दरवाज़ा खटखटाती थी
ख़ामुशी थी कि कोई नग़मए-साज़
ज़िन्दगी झूम-झूम जाती थी
बनके मौज-सबा नवाए-फ़िराक़
कल फ़ज़ाओं में सनसनाती थी

कल्पना १९५५
X

फ़िराक़ गोरखपुरी की हस्तलिपि में यह गज़ल स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

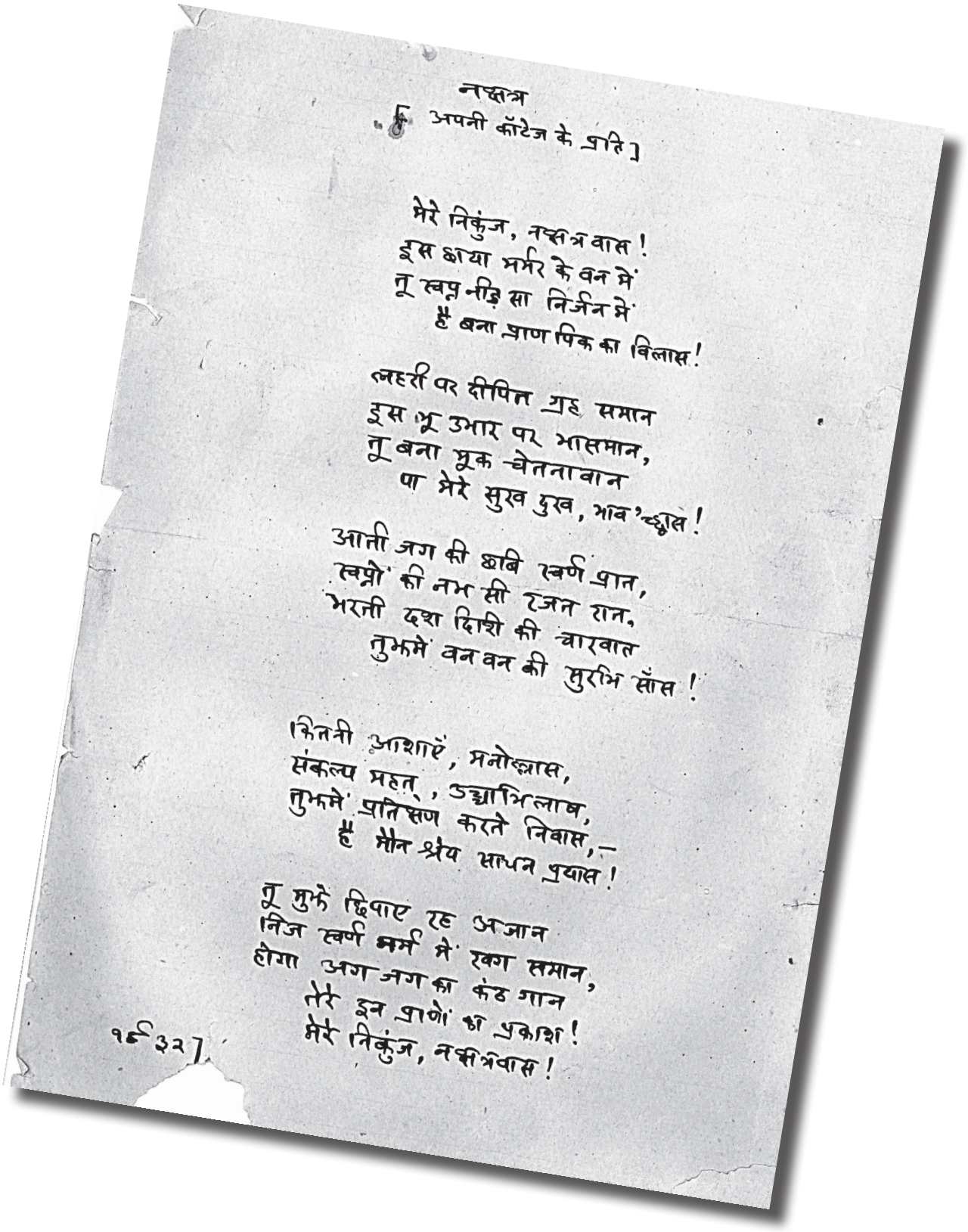

नक्षत्र

[अपनी कॉटेज के प्रति]

मेरे निकुंज, नक्षत्र वास !
इस छाया मर्मर के वन में
तू स्वप्न-नीड़ सा निर्जन में
है बना प्राण पिक का विलास !

लहरी पर दीपित ग्रह समान
इस भू उभार पर भासमान,
तू बना मूक चेतनावान
पा मेरे सुख दुख, भाव-श्वास !

आती जग की छवि स्वर्ण प्रात,
स्वप्नों की नभ सी रजत रात,
भरती दश दिशि की चारवात
तुझमें वन वन की सुरभि साँस !

कितनी आशाएँ, मनोल्लास,
संकल्प महत्, उच्चाभिलाष,
तुझमें प्रतिक्षण करते निवास,—
है मौन श्रेय साधन प्रयास !

तू मुझे छिपाए रह अजान
निज स्वर्ण मर्म में रक्त समान,
होगा अगजग का कंठ गान
तेरे इन प्राणों का प्रकाश !
मेरे निकुंज, नक्षत्रवास !

१९३२]

सुमित्रानंदन पंत की हस्तलिपि में 'नक्षत्र' नामक यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

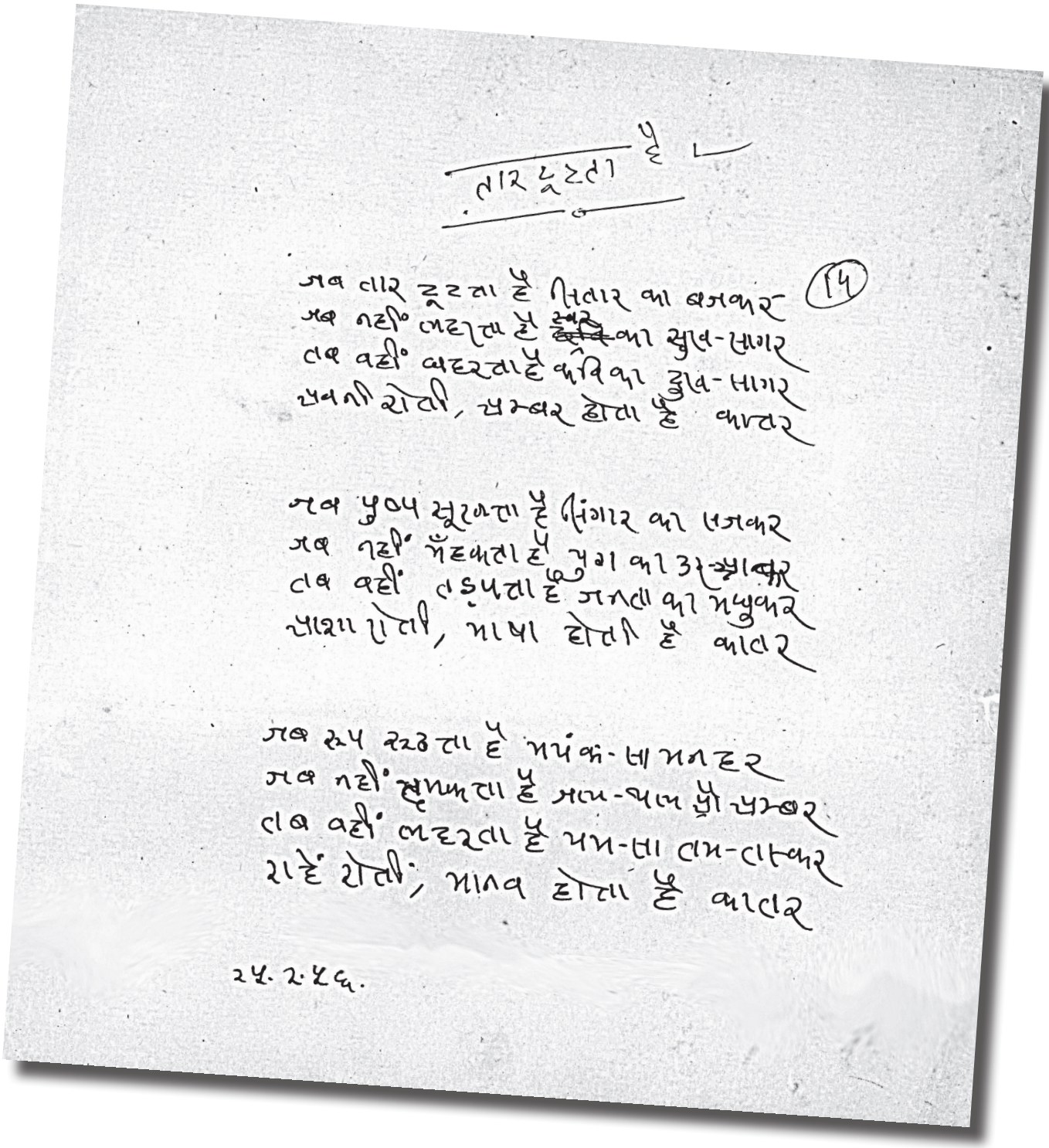

तार टूटता है

(14)

जब तार टूटता है सितार का बजकर
जब नहीं लहराता है स्वर का सुख-सागर
तब वहीं बहरता है कवि का दुख-सागर
धरती रोती, अम्बर होता है कातर

जब पुष्प सूखता है शृंगार का सजकर
जब नहीं महकता है युग का अरमान बिखर
तब वहीं तड़पता है जनता का मधुकर
प्रांगण रोती, माधव होती है कातर

जब रूप रुठता है मयंक-सा मनहर
जब नहीं चमकता है सत्य-धर्म पर अम्बर
तब वहीं लहरता है यम-सा तम-तांडव
रातें रोतीं, मानव होता है कातर

२५.२.५६.

केदारनाथ अग्रवाल की हस्तलिपि में 'तारा टूटता है' नामक यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

समीक्षा

कविता

शब्दार्थ की अकूत वैकल्पिकता

■ शंभु गुप्त

अमीरी रेखा
कुमार अंबुज
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
मूल्य : 150 /

कहानी आलोचना में प्रतिष्ठित नाम। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के 'स्त्री अध्ययन' विभाग के हेड रहते हुए लगातार लेखन में व्यस्त।

संपर्क : 08600552663

ईमेलः shambhugupt@gmail.com

'अमीरी रेखा' कुमार अंबुज का पाँचवाँ कविता-संग्रह है जो 'अतिक्रमण' के नौ साल के लम्बे अन्तराल के बाद आया है। कुमार अंबुज के यहाँ बड़बोलापन, लफ़्फ़ाज़ी, अहनन्यमता जैसी चीजें लगभग शून्य स्थिति में हैं। कुमार अंबुज कविता में सबसे पहले एक व्यक्ति/नागरिक के रूप में प्रस्तुत होते हैं। भारत में नागरिक किस मर्मान्तक माहौल में जीता है, यह देखकर रूह काँपने-सी लगती है। कुमार अंबुज ऐलिएनेशन में से थोड़ी-सी ज़मीन अपने लिए निकाल ही लेते हैं। उनका काव्य-नायक तय करता है कि धूप में भी ओस की तरह बाक़ायदा वह रहेगा। यह अप्रतिहत प्रतिरोध की एक नई रणनीति है जो आज कारगर हो सकती है। कवि का समायोजन में विश्वास नहीं। लोग समझें कि वे व्यवस्था में बराबर के हिस्सेदार और ज़िम्मेदार हैं। इसमें कुछ न कुछ योगदान हमारा भी है। ''इस निर्माण में शामिल है हमारी भी कुछ मिट्टी / हमने भी डाला है कुछ पानी/इस चेहरे के शिल्प में एक सलवट है हमारे चेहरे की भी।''

कुमार अंबुज बात को इस देश के आम आदमी के कोण से उठाते हैं। जहाँ तक आम आदमी की बात है, कुमार अंबुज उसे उसकी असल ज़िन्दगी से सीधे-सीधे उठाते हैं। यहाँ उनकी विषयवस्तु और अन्तर्वस्तु की प्रकृति पिछली कविताओं से पर्याप्त भिन्न है। उनकी अन्तदृष्टि और कविता का स्थापत्य भी बहुत-कुछ बदला हुआ है। इस दृष्टि से 'विजेता का इतिहास' कविता द्रष्टव्य है। कुमार अंबुज इतिहास की आख्या सामान्य-जन के लिहाज से करते हैं। इतिहास कथित विजेता की हाँ में हाँ मिलाना नहीं बल्कि सामान्य जन समूह के अन्तहीन संघर्ष की कथा है। इतिहास के प्रति यह बृहत्तर जन-समुदाय का पक्ष है। इतिहास को इस तरह देखने पर उसके प्रति हमारी उदासीनता कम होती है और हम अपने ऐलिएनेशन से उबरने की प्रक्रिया में आने लगते हैं। यही दरअसल इस कविता की वह ताक़त है जो प्रकारान्तर से हमारी ताक़त बनती चलती है।

आम आदमी को कविता के केन्द्र में लाने के लिए कुमार अंबुज शब्दों के अर्थों का दृष्टि-सम्पन्न पुनर्नवीकरण करते हैं। यह कुमार अंबुज की एक नई प्रवृत्ति है। शब्दार्थ का यह नवीकरण इस देश के बृहत्तर सामान्य जन की असल विचारभूमि की तलाश की महत्वाकांक्षी सृजन परियोजना के तहत है। जब शब्दों के अर्थों को बाक़ायदा अपचयित किया जा रहा हो, उन्हें उनके मूल और वास्तविक सन्दर्भों से काटकर निरर्थक और व्यर्थ घोषित किया जा रहा हो, तब इसकी ज़रूरत पड़ती है। 'अमीरी रेखा' कविता में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। यह प्रक्रिया बहुस्तरीय होती है और भाषा से पहले जीवन में चलती है। यह व्यक्ति के संवेदनहीन होने और मनुष्य के वस्तुकरण की नवीनतम प्रक्रिया है। नई सभ्यता की सबसे बड़ी देन यही है कि वह हमें मनुष्य की बजाय अधिक से अधिक एक वस्तु बना रही है। हालाँकि अत्यधिक वस्तुकरण ख़ुद इस सभ्यता का अब एक गहरा आन्तरिक संकट बनता जा रहा है- इस सदी तक आते-आते तुमने/ मनुष्यों की बजाय/वस्तुओं में बहुत अधिक निवेश कर दिया हैं। (नयी सभ्यता की मुसीबत)। कुमार अंबुज सबसे ज़्यादा अपने-आप से मुखातिब होते हैं। यह एक नया अभिव्यक्ति-विधान है जो समय की तुला पर ख़ुद को तोले जाने की बाध्यता के तहत वजूद में आता है और कविता में एक प्रकार का आरपारपन लाता है। कुमार अंबुज में ग़ज़ब का आत्मानुसन्धान मिलता है। ख़ुद से हद दर्ज़े की एक ज़द्दोज़हद, इस संग्रह में पहली से आख़िरी कविता तक लगातार चलती है। यह ज़द्दोज़हद एक नागरिक, एक व्यक्ति और एक मनुष्य के बतौर तो है ही, एक सचेत और प्रतिबद्ध कवि के बतौर भी है।

कविता एक मोर्चा कैसे बनती है, इसकी प्रक्रिया भी कुमार अंबुज में देखी जा सकती है। कविता पहले कवि की शरणस्थली बनने से बचे। यहाँ असल सवाल यह है कि एक नागरिक, एक

व्यक्ति और एक मनुष्य के रूप में कविता की सृजन-प्रक्रिया में एक कवि की भूमिका क्या हो? यानी कि वे कौन सी चीजें हैं जो एक कविता को कवि की शरणस्थली से एक मोर्चे में तब्दील करती हैं? इसके लिए सबसे ज़रूरी यह है-''तब अपने को और अपनी भाषा को बचाने के लिए/हो सकता है तुम्हें उस आदमी के पास जाना पड़े / जो इस वक़्त नमक भी नहीं ख़रीद पा रहा है / या घर की ही उस स्त्री के पास/जो दिन-रात काम करती है/ और जिसे आज भी सही मज़दूरी नहीं मिलती'' (अमीरी रेखा)। ये लोग जब प्रयत्नशील होते हैं तो भाषा में एक नई जान आती है और शब्दों की छिपी ताक़त बाहर आने लगती है- ''उनकी उठान देखिए, वे नक्षत्रों तक पहुँच गए हैं/एक शब्द के फेफड़ों में कितने लोग फूँक रहे हैं अपनी साँस/उस शब्द की छिपी ताक़त दिखने लगी है/सोयी हुई पंक्तियों की अँगड़ाइयों ने रच दी है नयी देहदृष्टि'' (जनगीत)।

कुमार अंबुज तरह-तरह से नवधनाढ्यवर्ग की ख़बर लेते हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ इसी वर्ग को सम्बोधित हैं। सीधे-सीधे कहीं पता नहीं चलेगा कि यह नवधनाढ्यवर्ग ही है लेकिन जैसे ही शब्दों की आत्मा, वाक्यों की धमनियों में प्रवेश करेंगे, पाठकों को इसका इलहाम होने लगेगा। अर्थाभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया कुमार अंबुज में लगातार चलती है।

कुमार अंबुज कविता के अर्थों के मामले में अपेक्षाकृत ज़्यादा खुले और जनतान्त्रिक हैं। वे कविता पर अपना कोई एक निश्चितार्थ नहीं थोपते; शब्दार्थ की प्रक्रिया को एकदम ही खुला और स्वतन्त्र छोड़े रखते हैं। शब्दार्थ पर कवि के नियन्त्रण के वे सख़्त ख़िलाफ़ हैं। वे सौन्दर्यशास्त्र की नवीनतम परिघटनाओं से परिचित हैं। शब्दार्थ से मुक्ति के वे कायल हैं और पाठक को पूरा-पूरा स्पेस देने में उन्हें बेहद रुचि है। दरअसल यही वह मुक़ाम है, जहाँ से कविता पाठकोन्मुखता ग्रहण करना शुरू करती है। कुमार अंबुज ने एक जगह लिखा-''मैं रोज़ परास्त होता हूँ'-/ इस बात के कम से कम बीस अर्थ हैं/यों भी एक-दो अर्थ देकर/ टिप्पणीकार काफ़ी कुछ नुकसान पहुँचा चुके हैं/गणनाएँ असंख्य को संख्या में न्यून करती चली जाती हैं''। 'परचम' शीर्षक से इस कविता में इस अंश के तत्काल बाद एक स्पेस छोड़कर अगला परिच्छेद यह है-''सतह पर जो चमकता है वह परावर्तन है/उसके नीचे कितना कुछ है अपार/शांत, चपल और भविष्य से लबालब भरा हुआ।''

यहाँ 'परास्त' 'भविष्य से लबालब भरा हुआ' कैसे बन गया; यह एक रहस्यमय तथ्य माना जा सकता है, लेकिन हक़ीक़त यह है कि रहस्य यहाँ कुछ भी नहीं है। रहस्य यह उन लोगों के लिए हो सकता है, जो सृजनात्मक शब्द को निरन्तर अपने हठधर्मी शिकंजे में कसे रहने के आदी होते हैं और जो भाषा की गतिशील जनवादी ताक़त को नहीं जानते। भाषा की गतिशील जनवादी

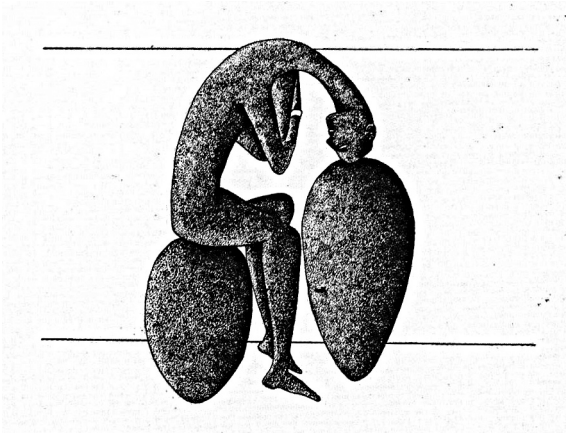

■ *आशुतोष आर त्रिपाठी का सेरिग्राफ*

ताक़त भाषा की वह प्रवृत्ति है जो उसमें आम लोगों के श्रम और संघर्ष और इनसे प्रसूत विवेक से आर्विभूत यथार्थ से उत्पन्न होती है और शब्दों को नए-नए आयाम देती चलती है। भाषा की शब्दार्थ-प्रक्रिया व्यापक से व्यापकतर होती चलती है। यथार्थ के नए-नए सन्दर्भों से शब्दों के नए-नए अर्थ खुलते चलते हैं और भाषा का जनोन्मुख सम्भव होता है। दरअसल यही वह प्रक्रिया है, जिसके तहत परास्त का अर्थ भविष्य से लबालब भरा हुआ हो जाता है। यह प्रक्रिया उसी व्यक्ति को समझ में आ सकती है, जो इस बात में यक़ीन रखता हो कि-''मुझे प्यास लग आयी है और यह सपना नहीं है/जैसे पेड़ की यह छाँह मंज़िल नहीं/यह समाज जो आख़िर एक दिन आज़ाद होगा/उसकी संभावना मरते हुए आदमी की आँखों में है/और असफलता मृत्यु नहीं है/यह जीवन है धोखेबाज़ पर भी मुझे विश्वास करना होगा/निराशाएँ अपनी गतिशीलता में आशाएँ हैं'' या इस तथ्य से सुविधा हो कि-''इसी जीवन में ट्रक की तेज़ी से गुज़रते हैं हादसे/जिनसे ख़ाली होती हुई जगह को/उसी वेग से भरती जाती है/पीछे से दौड़कर आती जीवन की हवा।'' (रचना प्रक्रिया)।

जब जीवन में ख़ुद ऐसी वैकल्पिकता बाक़ायदा मौजूद हो तो भला भाषा में क्यों नहीं हो सकती। बस इसे खोजने और पहचानने की ज़रूरत है। इस संग्रह की कविताओं की उपलब्धि यह है कि वे बहुत उत्सुकता और तत्परता के साथ शब्दार्थ की इस अकूत वैकल्पिकता को जहाँ जब जैसी सम्भावना हो, खोजने और पहचानने में लगी हैं। संक्षेप में कहूँ तो यह कथित उत्तर-आधुनिकता को उसी के औज़ारों से उसी के मैदान में बेहिसाब चुनौती देने की कोशिश है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कुमार अंबुज के बहाने मौजूदा हिन्दी-कविता का यह एक अपेक्षाकृत नया तेवर है, जो समय के संकट से परिणामोन्मुखता के साथ जूझने की प्रक्रिया में सामने आया है।

समीक्षा

यात्रा- वृतांत

पूर्वोत्तर भारत की असलियत

■ पंकज पाराशर

अक्सर हिंदी के कथाकार आलोचना पर यह आरोप चस्पां करते हुए पाए जाते हैं कि काव्य-आलोचना के जो प्रतिमान हैं, उसी के आधार पर आलोचक कथा-साहित्य की आलोचना करते हैं। जिसके कारण कथा-साहित्य के साथ न्याय नहीं हो पाता और चीजें स्पष्ट होकर जिस रूप में पाठकों तक पहुंचनी चाहिए, वह नहीं पहुंच पाती हैं। अनेक कथाकार तो अब तक की तमाम कथा-आलोचना को ख़ारिज करते हुए कहते हैं कि हिंदी में अभी तक कथालोचना का विकास नहीं हुआ। ऐसे में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि जब अब तक लिखी कथा-साहित्य की पूरी आलोचना को ही सिरे से नकारा जा सकता है, तो कथेतर गद्य की अल्प आलोचना के बारे में कथेतर गद्य लेखकों की पीड़ा सहज ही समझी जा सकती है। इत्तफाक से हिंदी के तमाम बड़े और प्रसिद्ध कथाकारों ने कथा-साहित्य के अलावा कथेतर गद्य भी खूब लिखा है, लेकिन आलोचना में चर्चा के क्रम में अक्सर उनके कथेतर गद्य में किये गये योगदान को अनदेखा कर दिया जाता है। वे लेखक तो प्रायः हिंदी आलोचना की उपेक्षा के शिकार होकर रह जाते हैं, जो मुख्य रूप से कथेतर गद्य ही लिखते हैं।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने रिपोर्ताज और संस्मरण खूब लिखा है, लेकिन आलोचना में जब 'रेणु' की चर्चा होती है, तो अधिकांश चर्चा प्रायः आंचलिकता, ग्रामीण-जीवन आदि के संदर्भ में होती है और 'मैला-आंचल' और 'परती परिकथा' उपन्यास की चर्चा तक आकर सिमट जाती है। काशीनाथ सिंह ने संस्मरण, कथा-संस्मरण आदि खूब लिखा है, मगर उनके कथेतर गद्य की चर्चा उस अनुपात में नहीं होती, जिस अनुपात में उनके उपन्यासों और कहानियों की होती है। अज्ञेय ने 'एक बूंद सहसा उछली' और 'अरे यायावर रहेगा याद,' निर्मल वर्मा ने 'चीड़ों पर चांदनी' तथा गोविन्द मिश्र ने 'धुंधभरी सुर्खी', नूर जहीर ने 'सुर्ख कारवां का हमसफर' में बहुत बारीकी से एक-एक चीज को देखा, जाना और महसूस किया है। जिस वजह से उनके यात्रा-वृतांत इतने सजीव और 'इंटीमेट' किस्म के हैं कि पाठक उसमें बंधकर रह जाता है। इन यात्रा - संस्मरणों को पढ़ते समय जैसे पाठक खुद उन यात्राओं का एक सहयात्री बन जाता है।

पिछले कुछ समय से मैंने पूर्वोत्तर भारत को लेकर लिखी गई कई पुस्तकें पढ़ी हैं। जिनमें कुछ ही पुस्तकें हिंदी में मिली, जिनसे बहुत अधिक जानकारी और संतुष्टि नहीं मिली। एक-दो साल पहले एक कथाकार की पूर्वोत्तर को लेकर यात्रा-वृतांत की एक पुस्तक आई थी, जिसकी अनेक कारणों से चर्चा हुई, लेकिन उस पुस्तक को पढ़ने के बाद चर्चाओं की असलियत इस रूप में सामने आई कि उस पुस्तक को पढ़कर पूर्वोत्तर के बारे में अच्छी राय नहीं बनती है। तथ्यों और वास्तविकता के चित्रण के मामले में कुछ लोग इतनी छूट ले लेते हैं कि उस दुनिया के यथार्थ से अनजान लोग गल्पित और कल्पित बातों को ही वास्तविकता मानकर अपनी राय कायम करने लगते हैं। लेकिन अभी थोड़े समय पूर्व एक ऐसे लेखक की पुस्तक से मेरा परिचय हुआ, जिनको मैं नहीं जानता था, न उनके लेखन से परिचित था। लेकिन चर्चाओं और महानता के रोगों से दूर गुवाहाटी के बाशिंदे इस लेखक का नाम है-सांवरमल सांगानेरिया और उनकी जिस पुस्तक ने मुझे खासा प्रभावित किया उस पुस्तक का नाम है- 'अरुणोदय की धरती पर'। यह पुस्तक पूर्वोत्तर में 'सेवन सिस्टर्स' के नाम से ख्यात राज्यों में से एक राज्य अरुणाचल प्रदेश को लेकर लिखी गई यात्रा-संस्मरणों की पुस्तक है। सांवरमल सांगानेरिया का अब तक का संपूर्ण लेखन पूर्वोत्तर भारत पर ही केंद्रित है और चूंकि वे निवासी भी गुवाहाटी के हैं इसलिए असमिया भाषा उनकी मातृभाषा सरीखी है, बांग्ला, अंग्रेजी और संस्कृत का उन्हें कार्यसाधक ज्ञान और लेखक वे हिंदी के हैं। इस वजह से एक किसी स्थान के बारे में उनकी अनुभूति, जानकारी और संस्कृति की समझ किसी 'आउटसाइडर' की समझ से अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक लगती है।

सांवरमल सांगानेरिया के यात्रा-वृतांत की एक

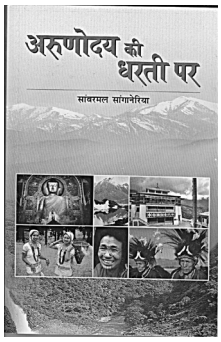

अरुणोदय की धरती पर
सांवरमल सांगानेरिया,
हेरिटेज फांउडेशन,
गुवाहाटी
मूल्य : 120/

युवा आलोचना में गंभीर उपस्थिति। पिछले दिनों एक आलोचना पुस्तक प्रकाशित और चर्चित। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में व्याख्याता।
संपर्क : 09634282886
ईमेल : pkjppster@gmail.com

विशेषता लक्षित की जानी चाहिए कि आम तौर पर पर्यटकों या सैलानियों का जिन चीजों की ओर सहसा ध्यान भी नहीं जाता, वे न केवल उन चीजों को बहुत सूक्ष्म तरीके से देखते हैं, बल्कि अपनी जिज्ञासा शमन हेतु पूरी जानकारी भी जुटाने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं- 'मिथुन नामक जानवर का नाम सुनना अजीब लग सकता है। यह पशु देखने में गाय से बड़ा किंतु भैंस से छोटा होता है। इसका आकार भैंस से ज्यादा मिलता-जुलता है। कभी-कभी इसे देखकर सांढ़ होने का भ्रम होता है पर यह गौ वंश का जानवर नहीं होता।' (पृ.24) सिर्फ पशु-पक्षी ही नहीं, नदी, पहाड़, झरने जैसे प्रकृति के बड़े उपहारों को देखकर उनका हृदय किस प्रकार आनंदित होता है, देखिये- 'लोहित का पानी घाटी में कलकल निनाद करता हुआ प्रवाहमान था। उसके जल की आभा इतनी नीली थी जैसे कोटि नीलकांत मणियों को चूर्णकर उसमें घोल दिया गया हो। वहां कोई कुंड न होकर भी उसकी प्रतीति हो रही थी। संकरे घाट को तीन ओर से ऊंचे पहाड़ों ने घेर रखा था और सामने नदी में एक त्रिभुजाकार काफी ऊंची चट्टान खड़ी थी।'(पृ.33)

इस पुस्तक में लेखक लोहित नदी को देखकर न केवल उसकी नैसर्गिक सुंदरता पर मोहित होते हैं बल्कि लोक-कथाओं, लोक-श्रुतियों और किंवदतियों का भी साथ में उल्लेख करते हुए चलते हैं- 'इसी जलधारा में परशुराम के हाथ से चिपका हुआ परशु छूटा था। उनकी पितृ-भक्ति भी बड़ी विकट थी, तभी तो अपने पिता ऋषि जमदग्नि के आदेश पर अपनी माता रेणुका का सिर परशु से काट डाला। ऋषि जमदग्नि के निर्देशानुसार ही वे सहयाद्वी (कोंकण) से चलकर इस ब्रह्मकुंड पर आये और लोहित-जल में स्नान करने पर उनके हाथ से चिपका परशुराम छूटा।' (पृ.34) यथार्थ के साथ आख्यान और मिथक के मेल से अपनी यात्रा में आगे बढ़ते हुए लेखक एक्स - रे की तरह मर्मभेदी निगाहों से चीजों को देखते हुए आगे बढ़ते हैं। अरुणाचल प्रदेश में भाषा के मसले को लेकर उन्होंने एक दिलचस्प किस्सा बयान किया है - 'बातों में न्योबा जी ने बताया कि मेरी और मेरे पति की बोलियां अलग-अलग हैं। वे दिरांग की बोली बोलते हैं और मेरी बोली सेंड गे गांव की है। इसलिए हम पहले आपस में असमिया में बात करते थे। फिर बच्चों की देखा-देखी हम भी हिंदी में बात करने लगे। धीरे-धीरे मैंने इनकी दिरांगी बोली सीख ली।'(पृ.175) भाषा को लेकर आगे एक और तथ्य का खुलासा करते हुए न्योबा बताती हैं- 'अरुणाचल प्रदेश जब नेफा कहलाता था, तब यहां स्कूलों में पहले असमिया पढ़ाई जाती थी। मैं और फिर मेरे पति पुराने जमाने में इसी माध्यम से पढ़े हुए हैं। बाद में असमिया की जगह हिंदी पढ़ाई जाने लगी तो इसका प्रचलन ज्यादा बढ़ गया।' यात्रा-वृतांत की इस पुस्तक में उन्होंने अरुणाचल प्रदेश की अनेक जनजातियों, उनके खान-पान, रीति-रिवाज, ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्यों आदि के बारे में प्रमाणिकता के साथ लिखा है। तथ्यों की जगह उन्होंने गल्प का सहारा लेने का प्रयत्न नहीं किया है। कहना न होगा कि सुदूर पूर्वोत्तर भारतीय राज्य अरुणाचल प्रदेश के बारे में सांवरमल सांगानेरिया की यह पुस्तक इस भू-भाग से अनजान कथेतर गद्य के रसिया पाठकों को सूचना-संपन्न करने के साथ ही उस प्रदेश के बारे में बहुत-सी अन्य जानकारियों से भी समृद्ध करती है।

समीक्षा

संस्मरण

धीमी-धीमी आँच में संस्मरण

■ पल्लव

बलराम हिन्दी कथाकार और सम्पादक हैं। इधर लोकायत नाम की एक पत्रिका का सम्पादन करने के साथ वे इसमें लम्बे अरसे से कालम भी लिख रहे हैं। इस कालम में वे अपने समकालीन लेखकों के संस्मरण सुनाते हैं और दिलचस्प किस्से भी। लगे हाथ उस लेखक की किताबों-कृतियों पर भी अपनी बात कहते जाते हैं। इस तरह लिखे गए आलेखों का यह संकलन हाल में आया है। इसे संस्मरणात्मक आलोचना कहने में संकोच होना चाहिए क्योंकि यहाँ विवेच्य लेखकों के उज्ज्वल पक्षों की ही चर्चा की गई है जबकि आलोचना में यह गुंजाइश प्रायः नहीं होती। मूलतः ये संस्मरण ही हैं, भले इनमें लेखन की चर्चा आ गई हो। दूसरी बात यह कि बलराम का अपना निजी व्यक्तित्व भी इनमें जहां-तहां देखा जा सकता है। किताब की भूमिका में उन्होंने लिखा है- 'आत्मकथात्मक संस्मरण कृति माफ़ करना यार के रूप में लिखनी तो शुरू की थी, लेकिन लिखकर लगा, अरे यह तो औरों की कथा हो गयी। फिर सोचा-अगली पुस्तक सिर्फ और सिर्फ अपने बारे में लिखूंगा, लेकिन देखिए, सामने हैं फिर वही ढाक के तीन पत्ते, पुस्तकें, उनके लेखक और पाठक। इनसे अपनी दोस्ती कुछ ऐसी ठहर गयी लगती है कि जैसे मरकर ही टूटेगी।' तो असल में इस किताब में भी हमें आलोचना खोजने की बजाय बलराम के संस्मरण और संस्कृत लेखकों की किताबों पर आत्मीय चर्चा ही देखनी चाहिए। पहले अध्याय में उपन्यासकार हेलेन हैम्फ़ और कथाकार शिवमूर्ति की चिट्ठियाँ अनमोल है जिसमें उन्होंने शिवमूर्ति की अपने नाम कुछ चिट्ठियाँ दी हैं और हेलेन हैम्फ़ के पत्रचार को इस सन्दर्भ में याद किया है। अगले अध्याय में उन्होंने कानपुर में वामपंथी पुस्तक विक्रेता महादेव खेतान और आनंद माधव, चीनी लेखक मो यान तथा कहानीकार अरुण प्रकाश पर इकट्ठे लिखा है। वे कोशिश करते हैं कि इन लेखकों के जीवन या लेखन में कोई अन्तर्सूत्र खोजते-बनाते हुए आलेख को पठनीय बनाया जाए लेकिन यहाँ अरुण प्रकाश और मो यान आनंद माधव में क्या अंतर्संबध हो सकते हैं भला? विभाजन और मंटो की जन्म शताब्दी को याद करते हुए लिखे अध्याय में वे उपेन्द्रनाथ अश्क, नरेन्द्र मोहन, राजी सेठ और प्रेम भारद्वाज का ज़िक्र करते हैं यहाँ जिस इत्मीनान से मंटो और उनके लेखन पर विचार किया गया है उतना या वैसा शेष दो पर नहीं। इसका कारण यह है कि नरेन्द्र मोहन की किताब मंटो अभी ज़िंदा है और प्रेम भारद्वाज की पत्रिका पाखी के बहाने इन विभूतियों को याद कर रहे हैं और शीर्षक के ऊपर दिए नामों से ध्वनि यह निकलती है कि इन चार शख्सियतों पर संस्मरण है। यहाँ राजी सेठ की कहानियों पर संक्षिप्त चर्चा भी इसलिए उल्लेखनीय बन गई है कि वे उनकी कहानियों की शक्ति और सामर्थ्य की तरफ इशारा कर सके हैं।

गणेश शंकर विद्यार्थी पर लिखे आलेख में उनके लेखन और पत्रकारिता के साथ साथ उनके क्रांतिकारी व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है। बलराम जी का उनके प्रति अतिरिक्त सम्मान उचित भी है क्योंकि जिस कानपुर ने गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे स्वतन्त्रता सेनानी दिए हैं उसी शहर की उपज बलराम भी हैं। इस प्रसंग में ही उन्होंने प्रेमचंद रचनावली बनाने की कहानी भी लिखी है। सारिका के सम्पादक रहे बलराम इस तरह के अनेक साहित्यिक प्रसंग इस किताब में सुनाते हैं जो हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से सूचनाप्रद हैं बल्कि ज्ञानवर्धक हैं। ऐसे ही एक प्रसंग में वे शताब्दी की श्रेष्ठ कहानियों के संचयनों की चर्चा करते हैं जो वाकई बहुत उपयोगी और सूचनाप्रद है।

मूलतः पत्रकारिता करने के कारण अस्वाभाविक भी नहीं कि किताब में अनेक पत्रकारों और पत्रकारों की किताबों की चर्चा हुई है। पत्रकार सुरेन्द्र प्रताप सिंह, इन्दर मल्होत्रा की इंदिरा गांधी पर किताब, कर्ण सिंह की आत्मकथा, अरुंधती राय और मीनाक्षी नटराजन की किताबें इस श्रेणी में आती हैं। प्रणब मुखर्जी के राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के अवसर पर आलोक मेहता की भारत के राष्ट्रपतियों पर लिखी गई किताब के बहाने भारत के इस सर्वोच्च पद से जुड़े अनेक रोचक प्रसंग एक संस्मरण में आए हैं। यहीं वरिष्ठ कवि नन्द चतुर्वेदी की किताब अतीत राग पर लिखी टिप्पणी भी इसके साथ है, शायद इसलिए कि नन्द बाबू ने अपनी किताब में

धीमी-धीमी आँच
बलराम
भावना प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : 360/

चर्चित युवा आलोचक। दिल्ली में अध्यापन। 'बनाम' पत्रिका का संपादन करते हैं।
संपर्क : 8130072004
ईमेल :

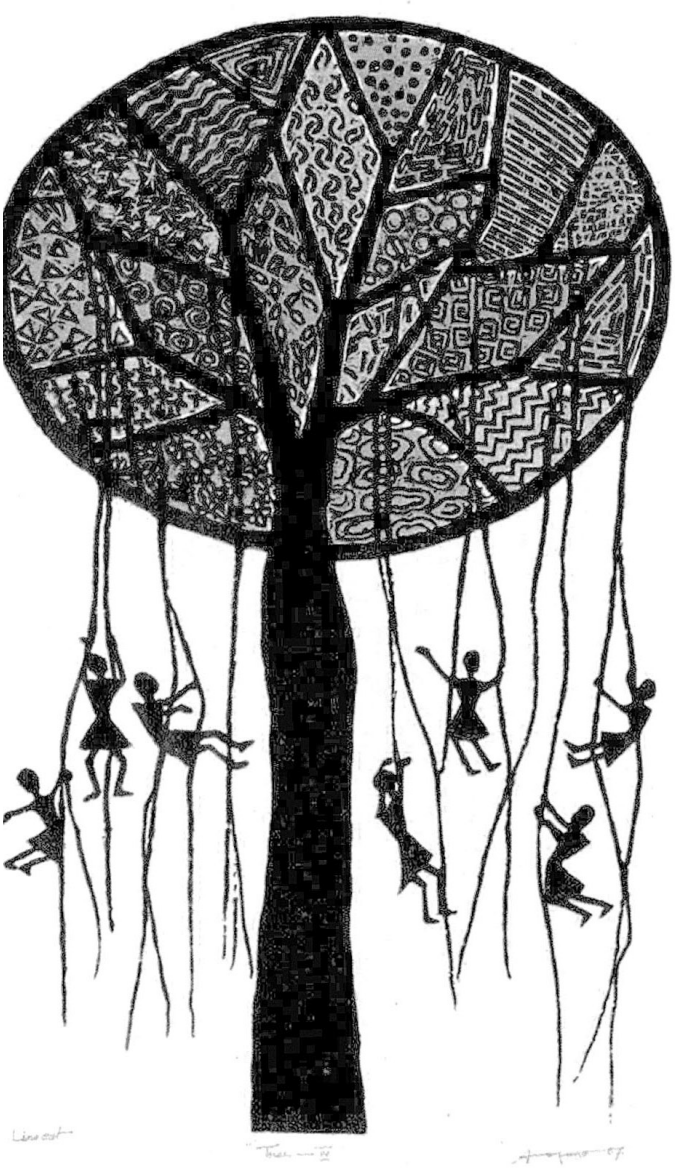

■ *अंजना मुखर्जी का लिनोकट*

भारतीय राजनीति के अनेक आन्दोलनों- प्रसंगों को याद किया है।

चित्रा मुद्गल से बातचीत और उनकी किताब पाटी की चर्चा इस किताब का सबसे समृद्ध अध्याय माना जाएगा। चित्रा मुद्गल के लेखन संसार पर बलराम ने लिखा है। यह बलराम की विशेषता है कि वे किसी लेखक से सम्बंधित अप्रिय प्रसंगों को नहीं छेड़ते।

पंकज मिश्रा की किताब 'एन एंड टु सफरिंग' और महेश दर्पण के यात्रा संस्मरण 'पुश्किन के देश में' में जैसे यात्रा संस्मरण पर बातें हुई हैं। दिक्कत यह हो सकती है कि जिन किताबों और लेखकों पर वे लिखते हैं उसकी सम्पूर्ण चुनाव स्वयं उन्होंने किया है अतः उनसे किसी आलोचनात्मक अनुशासन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। इस तरह से भी यदि परिदृश्य पर बात हो तो भी क्या बुरा है? हिन्दी के बहुत बड़े केनवास पर कोई एक साथ बात शायद कर भी न सके। इस किताब में केशव के अंगरेजी उपन्यास 'डोमन ट्रेप', और उनकी श्रेष्ठ कहानियों पर चर्चा, श्रीनिवास श्रीकांत द्वारा संपादित किताब 'कथा में पहाड़', कथाकार राजेन्द्र राव, मधुसूदन आनंद, अशोक गुप्ता, एस आर हरनोट और रूपसिंह चंदेल के लेखन पर भी आलेख हैं। इसी तरह तीन कवियों कैलाश वाजपेयी, विश्वनाथ तिवारी, अग्निशेखर, बलदेव वंशी पर एक अध्याय में उन्होंने अपने निजी प्रसंगों को याद करते हुए लिखा है। व्यंग्य जैसी उपेक्षित समझी गई विधा पर लिखते हुए वे असग़र वजाहत, और परसाई के लेखन को भी याद करते हैं। किताब में प्रसंगवश अनेक ऐसी उक्तियाँ रची हैं जो याद रहने वाली हैं-

'कुछ लेखक पैदा बाद में होते हैं, उनकी पुस्तक पहले आ जाती है।'

किसी भी कहानी के अमर होने के कारणों में एक कारण उसका फर्स्ट हैण्ड होना है।

हमेशा तो नहीं लेकिन कभी कभी अतीत में जाना अच्छा लगता है।

राजस्थान के कथाकार विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, मालचंद तिवाड़ी पर एक साथ लिखते हुए वे प्रादेशिक अस्मिता पर बात करते हैं और कुछ सवाल भी करते हैं। वे पूछते हैं कि राजस्थान, झारखण्ड, उत्तराखंण्ड, हरियाणा, हिमाचल और बिहार के कितने लेखकों को साहित्य अकादमी, व्यास सम्मान और ज्ञानपीठ पुरस्कार मिल सका है? पता नहीं इस तरह से हमें चीजों पर विचार करना चाहिए या नहीं? लेकिन हम याद कर सकते हैं कि जिस हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और राजस्थानी की बोलियों ने अपना समर्थन दिया था वे सब अब अपने अपने झंडे ऊँचे करने में तत्पर हैं।

किताब में एकाध अपवाद को छोड़कर कोई गड़बड़ नहीं, जो है वह भी देखने में कोई बुराई नहीं होनी चाहिए। असल में एक जगह (पेज 46) वे कमलकिशोर गोयनका के हवाले से कहते हैं कि प्रेमचंद गरीब नहीं थे और फिर थोड़ा आगे (पेज 61) लिखते हैं कि प्रेमचंद, निराला और अश्क में समानता यह थी कि तीनों का आख़िरी समय 'भीषण अभावमय और दारुण' बीता। बहरहाल, किताब पठनीय है और हिन्दी आलोचना की 'अनुपस्थिति' के दारुण दुःख को कम करने का उद्यम रचती है।

समीक्षा

यात्रा- वृत्तांत

सात देशों के यात्रा वृत्तांत

■ सीमा शर्मा

'यात्रा वृत्तांतों में देश विदेश के प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता, नर-नारियों के विविध जीवन - सन्दर्भ प्राचीन एवं नवीन सौंदर्य - चेतना, की प्रतीक कलाकृतियों की भव्यता तथा मानवीय सभ्यता के घोतक अनेक वस्तु - चित्र यायावर लेखक के मानस पर रुपायित होकर वैयक्तिक रागात्मक उष्मा से दीप्त हो जाते हैं। लेखक अपनी बिम्बदायिनी शक्ति से उन्हें पुनः मूर्त करके पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति को तुष्ट कर देता है।' (डॉ. रामचंद्र तिवारी-'हिंदी का गद्य साहित्य', पृ. 294-95) वहीं महादेवी वर्मा ने यात्रा-साहित्य को स्पष्ट करते हुए कहा है- 'संगीत थम जाने पर गायक जैसे भैरवी के वाक्य और अपने गीत के संगीत पर विचार करने लगता है; वैसे ही यात्री अपनी यात्रा के संस्मरण दोहराता है। अतीत-कालीन यात्रा को सजीव कर देने का तत्व यह वर्णन, साहित्य का रुप प्रदान करता है।' डॉ. भारती राणे का यात्रा- वृत्तांत भी इन विशेषताओं से परिपूर्ण है। पेशे से गाइनोकोलोजिस्ट लेखिका भारती राणे यायावरी वृत्ति की हैं, तभी तो वे अब तक 35 देशों की यात्रा कर चुकी हैं और सात देशों का यात्रा-वृत्तांत लिख चुकी है तथा अन्य आठ देशों का यात्रा-वृत्तांत लिख रही हैं। भारती राणे के प्रवास निबंध गुजराती दैनिक 'गुजरात मित्र' व 'दिव्य भास्कर' तथा साहित्यिक पत्रिका 'कुमार' में नियमित स्तंभ के रुप में प्रकाशित हो चुके हैं।

'ईप्सितायन' के लिए लेखिका ने ऑस्ट्रिया, ईजिप्ट, मॉरीशस, जर्मनी, हंगरी, ग्रीस तथा चैकोस्लावाकिया के विभाजित देश चेक गणराज्य देशों को चुना है। लेखिका जिन देशों की यात्रा करती है उन्हें अपना ईप्सितायन मानती हैं। भारती राणे के लिए 'भ्रमण' उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। भ्रमण के बाद भी राणे के मस्तिष्क में स्मृतियाँ चलती रहती हैं और वे अपने अनुभूत सत्य को लिपिबद्ध करने में जुट जाती हैं। वे जिन स्थानों पर लिखती हैं उनसे जुड़ा इतिहास, उनका वर्तमान, वहाँ की भाषा, जीवन शैली, संस्कृति, उन स्थानों से जुड़ी दन्तकथाएँ और प्राकृतिक-सौंदर्य को बड़ी बारीकी एवं जीवता के साथ चित्रित करती हैं। जिससे पाठक को उसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है। पाठक को ऐसा लगता है मानो राणे एक 'गाइड' की तरह उस स्थान का भ्रमण करा रही हैं। 'ईप्सितायन' विवरणात्मक या सूचनात्मक नहीं है वरन यह प्रकृति संसर्ग से उद्रभूत उल्लाससाधृत है। इसमें संस्मरणात्मक रोचक शैली का प्रयोग है। प्रकृति में बिखरे सौन्दर्य को लेखिका ने सूक्ष्मता से ग्रहण किया है और अपनी पैनी दृष्टि से सूक्ष्म रंगों, सुंदर मनोरम दृश्यों एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का तथ्यपरक एवं रोचक चित्रण किया है। 'ईप्सितायन' में लेखिका की गम्भीर चिन्तन एवं दार्शनिक दृष्टि दिखाई देती है। प्रकृति प्राप्त दार्शनिक और गहरी अनुभूतियाँ भी इस कृति में दिखाई देती हैं। 'ईप्सितायन' की एक विशेषता इसकी मनोरंजन मूलक दृष्टि भी है। इसकी रचना निबंधों के रूप में की गई है। हर एक निबंध के पूर्व में एक चित्र दिया गया है और वे चित्र उसी स्थान से संबंधित हैं जिसका विवरण उस निबंध में है। इन चित्रों का इस पुस्तक में विशेष स्थान है क्योंकि ये चित्र इस पुस्तक को और अधिक रोचक और आकर्षक बनाते हैं तथा उस स्थान विशेष को समझने में मदद भी करते हैं। निबंधों में कहानी सी रोचकता और सरसता है। कहीं-कहीं हिंदी फिल्मों के गीतों की कुछ पंक्तियों का प्रयोग यहाँ है। एक उदाहरण देखिए- ''सन् 1989 में चेकोस्लोवाकिया ने फिर एक बार लोकतंत्र की मुक्त सांस ली। यह आनंद भी अल्पजीवी साबित हुआ। देश स्वतंत्र होते ही अलगाववादी शक्तियों ने सिर उठाया। स्लोवाक प्रजा को हमेशा ऐसा लगता कि उन पर चैक लोगों का गैरवाजिब वर्चस्व है, जिसको अस्वीकार कर देना चाहिए। स्लोवाक प्रजा में अपना अलग स्वायत्त स्थापित हो, ऐसी लोकभावना थी। आखिर, 1जनवरी 1993 के दिन चेकोस्लोवाकिया का विभाजन हुआ और चैक रिपब्लिक और स्लोवाक रिपब्लिक, इस तरह दो अलग-अलग राष्ट्रों का निर्माण हुआ । रक्त बहाए बिना सरलता से सम्पन्न हुए इस आन्दोलन को 'वेल्वेट रिवॉल्यूशन' (मखमली क्रांति) और विभाजन की

ईप्सितायन
भारती राणे
सर्जना प्रकाशन,
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर,
मूल्य : 250/

कई महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित। मेरठ में अध्ययन।
संपर्क : 09457034271
संपर्क : sseema561@gmail.com

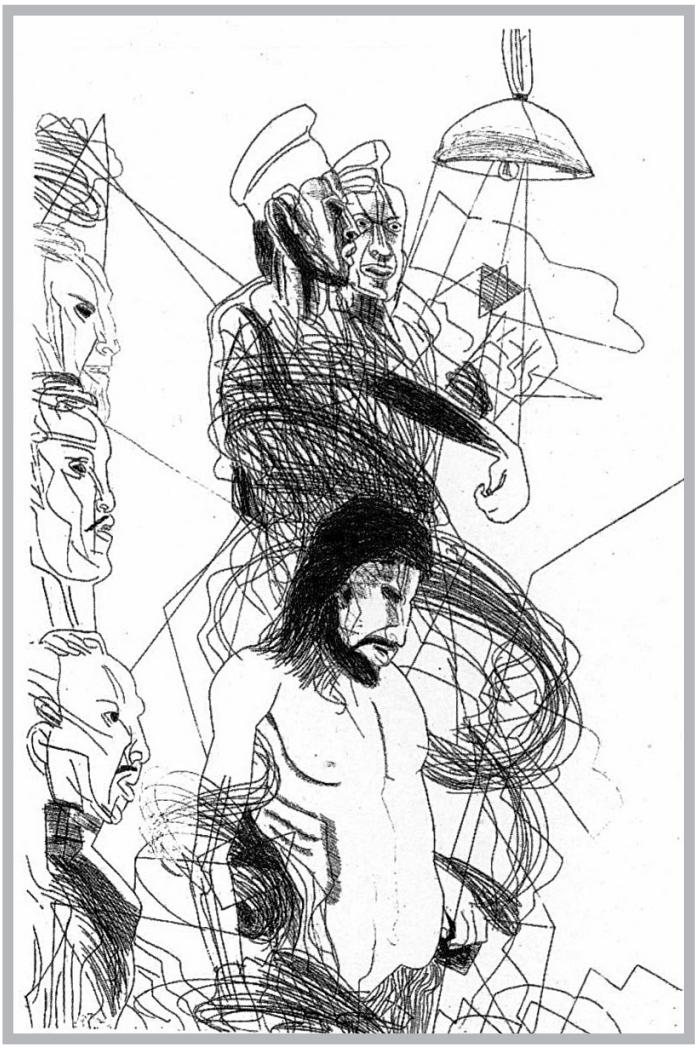

■ *अमरीश शरद परसेकर का इचिंग*

इस प्रक्रिया को 'वेल्वेट डायवॉर्स' अर्थात मखमली तलाक भी कहते हैं। यह अलग बात है कि अनेक मुगल की तरह ये दोनों देश भी जी भरकर पछताये। पर 'जिन्दगी के सफर में गुज़र जाते हैं जो मकां, वो फिर नहीं आते' (पृ.145)। इस प्रकार राणे इतिहास को मनोरंजक बना देती हैं। यही कारण है कि यात्रा-वृत्तांत में कथा जैसी रोचकता उत्पन्न हो जाती है।

राणे ने सुप्रसिद्ध साहित्यकार निर्मल वर्मा के नौ-दस वर्ष 'प्राहा' प्रवास की चर्चा भी इस कृति में की है साथ ही महान् पेण्टर 'पिकासो' और महान् संगीतकार 'मोत्जार्ट' एवं उनकी रचनाओं पर भी प्रकाश डाला है। लेखिका जिन स्थानों पर जाती हैं वहाँ के लोगों में उनकी रुचि है। यदि उन्हें किसी ने प्रभावित किया तो वे उनका उल्लेख भी अपनी कृति में करती हैं जैसे-'प्राहा' में उनकी 'आल्बेतोवा' को कैमिकल इंजीनियर और प्रोफेसर से गाइड बनना पड़ा। पर उसे उसका कोई रंज नहीं था। तभी तो वह कहती थीं ''स्वतन्त्रता हमें प्यारी है। हमारी प्रति व्यक्ति आय भले ही कम हो, हम सब हमारी दुनिया में खुश हैं।'' (पृ.154) लेखिका को जब किसी स्थान के रक्तरंजित इतिहास के बारे में पता चलता है तो निराश हो जाती हैं। उनका मन बोझिल हो जाता है और अपनी भावाभिव्यक्ति इस प्रकार करती हैं - ''हिटलर की महात्वाकांक्षाएं और उसकी रक्त पिपासा भी उसके शरीर के साथ माटी में मिल गई। वास्तव में सर्वभक्षी महाकाल के सामने किसी का भी क्या महत्व था? मुर्दों का यह टीला जैसे पूछ रहा था कि किसलिए होते हैं युद्ध? क्यों होता है नरसंहार? इस टीले तक पहुँचने का रास्ता अभी तक क्यों लहूलुहान है? '' (पृ.153)

कुछ निबंधों के अन्त उन स्थानों की विशेषताओं और उन स्थानों पर जाने का उत्तम समय, जाने के सही मार्ग की जानकारी भी दी है। लेखिका जब किसी विश्व धरोहर के बारे में बताती हैं तो वहीं उन्हें उनकी चिन्ता भी सताती है और मनुष्य को उसकी गलतियों के प्रति आग्रह भी करती हैं- ''हमारी मनुष्य जाति मृत्युशैया पर भी क्या चैन से सोने दे, वैसी है? उसने इतिहास की इस धरोहर को लूटने में कुछ बाकी नहीं रखा। हीरे जवाहरात तो इसने लूट, पर पिरामिड पर जड़े हुए पत्थर भी उसने खोद डाले। सुरंगे फोड़ कर इसमें झोकने के लिए सूराख निकाले, छेनियों से उसके ऊपर अपने नाम खोद डाले। पिरामिड का जितना नुकसान रण की आँधियों और जलती सुलगती हवा जैसे तत्वों से हजारों वर्षों में किया इसकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक नुकसान बुद्धिशाली गिने जाते मनुष्य ने किया है।'' (पृ. 80) कुछ निबंधों के अन्त में संप्रेषण के लिए आवश्यक शब्दों की सूची भी दी है।

'ईप्सितायन' में लेखिका ने निबंधों के नाम भी बड़े आकर्षक दिये हैं। ये भी पुस्तक की पठनीयता में वृद्धि करते हैं। उदाहरण के तौर पर शांति, सम्पूर्णता और चैन का पड़ाव : बॅडगॅस्टाईन, थम चुके समय का शहर क्रेटर, खोह और प्रकृति की कारीगरी का प्रदेशः मॉरीशस, आसमान ओढ़कर खड़ा अरण्यलोक : बावेरियन फॉरेस्ट, एक पर एक .... कब्रों में पुनर्जीवित शहर : प्राहा आदि। ईप्सितायन की भाषा सरल, सजीव चित्रात्मक है। जैसे 'हरी-भरी पर्वतमालाओं के बीच-बीच कहीं सफेद पथरीले गिरिश्रंग दिखने लगे। निर्वृक्ष और निरावरण उनका सफेद रंग जैसे वे हिमाच्छादित हों वैसे भ्रांति पैदा करने लगा।'

'ईप्सितायन' मुलरूप से गुजराती भाषा में लिखी गई पुस्तक है। इसके हिन्दी अनुवाद के लिए लेखक को 'राजस्थान साहित्य अकादमी' की ओर से सम्मानित भी किया गया है। यह सम्मान उन्हें सबसे अच्छी अनुदित हिन्दी पुस्तक की श्रेणी के लिए दिया गया है।

समीक्षा

कहानी

कुछ नया रचने की आकांक्षा

■ वेदप्रकाश अमिताभ

वीरेन्द्र सक्सेना गत पाँच दशकों से कहानी लिख रहे हैं। 'कितना दूध कितना पानी' उनका दसवाँ कहानी संग्रह हैं। इसमें संकलित कई रचनाएँ कहानी से इतर यात्रावृत्त, रेखाचित्र, निबंध आदि विधाओं के अधिक निकट हैं। 'अगम्यागमनः कुछ अनुभव, कुछ विचार', 'कितना दूध कितना पानी', 'एक नया सहजीवन उर्फ पर्यटन-चिंतन', 'श्यामा से शिल्पा तक', आदि रचनाएँ प्रमाण के लिए पठनीय हैं। जहाँ तक कहानियों का प्रश्न हैं, वे सभी मध्यमवर्गीय जीवन-संदर्भों से जुड़ी हैं और अधिकतर जटिल काम संबंधों की गुत्थियों के इर्दगिर्द बुनी गई हैं। वीरेन्द्र सक्सेना उन्मुक्त काम संबंधों के समर्थक नहीं हैं, हालांकि उनकी कहानियों में यौन वर्जनाओं के उल्लंघन और स्त्री-पुरूष की दोस्ती के संकेत छिपे हुए नहीं हैं। स्त्रियाँ कथित परपुरूष के साथ घुमती-फिरती हैं और स्वंय को खोलकर रख देती हैं लेकिन परपुरूषों और परस्त्रियों के साथ देहसंबंध स्थापित नहीं होते हैं। विवाह-संस्था से संबंधित विसंगतियों को उघेड़ा गया है, लेकिन विवाह-संस्था इन कहानियों में तमाम तनावों और समस्याओं को भुल कर अंततः बची हुई है। 'आकलन', 'उम्र कैद', 'पाकड़ का पेड़', 'तीन रेशमी रूमाल' आदि कहानियों में दाम्पत्य, 'प्रेम' के बूते पर मजबूत हुआ है। 'आकलन' में पति और पत्नी दोनों वैवाहिक जीवन को इतना प्रेममय बना देना चाहते हैं कि उन्हें प्रेम की तलाश में इधर-उधर भटकना न पड़े। प्रेम के बल पर शक्तिसंपन्न होने और करने का संकल्प कहानीकार के सकारात्मक विजन का व्यंजक है।

हालांकि कई रचनाओं में बिना विवाह 'सहजीवन' जैसे प्रयोग चौंकाते हैं, लेकिन रचनाकार निर्भ्रांत है कि दो व्यक्तियों को शारीरीक संबंध तभी बनाने चाहिएं जब उनमें पारस्परिक प्रेम-भाव विकसित हो चुका हो। इस संदर्भ में श्यामा का कथन यथार्थ परक है कि 'प्रेम' तो अब होता ही नहीं है, यह तो 'आकर्षण' होता है या 'स्वार्थ'। डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना की रचनाओं को पढ़ते हुए लगता रहा है कि वहाँ जिए हुए यथार्थ और रचे हुए यथार्थ के बीच का फासला न के बराबर है। कई कहानियों में वे विनय के रूप में उपस्थित होते रहे हैं, लेकिन 'श्यामा से शिल्पा तक' में वे 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' में नियुक्त अधिकारी के रूप में ही विद्यमान हैं। इसके बावजूद इस तरह की रचनाओं को सत्यकथा समझना भूल होगी। अपनी आत्मकथा 'क्रम और व्युत्क्रम' में उन्होंने स्पष्ट किया है कि वास्तविक जीवन की कथा और सर्जनात्मक कथा एक नहीं होतीं, हाँ, इनका संबंध जड़ और तने सरीखा हो सकता है।

इस संग्रह की कई कहानियों में परिवेश की विसंगतियाँ और कुरूपताएँ यथास्थान आई हैं और कहानीकार की परिवेशगत सजगता को प्रमाणित करती हैं। 'पति, पत्नी और दूरदर्शन' में यदि बेरोजगार इंजीनियर की विकल्पहीनता है तो 'एक अपारिवारिक कहानी' में युवापीढ़ी का भटकाव डराने वाला है। 'काल सापेक्ष' में गुजरात के साम्प्रदायिक दंगों का उल्लेख है और एक मुस्लिम युवक की सहृदयता प्रमाण है कि अमानवीय क्षणों में भी मनुष्यता बची हुई है। 'ब्रेकफेल' में सिर्फ सब के ब्रेक फेल नहीं हुए हैं, पूरे शासन-प्रशासन के जड़ हो जाने का हादसा हुआ है। संग्रह की एक महत्वपूर्ण कहानी 'आमदनी और आम आदमी' है, जो स्पष्ट कर देती है कि ऊपर की आमदनी को भ्रष्टाचार नहीं समझा जाता है, कई लोग इसे प्रतिष्ठा की बात मानते हैं। यही वजह है रामनाथ अपनी लड़की के लिए प्राध्यापक वर की जगह 'क्लर्क' को वरीयता देते हैं। कुछ कहानियों की निर्णयशीलता कथाकार के प्रौढ़ एवं 'प्रखर विजय' को रेखांकित करती है। कल्याणी का एक बच्ची को गोद लेना (काल सापेक्ष) और राजकुमारी का स्वावलंबी होकर एक कालेज स्थापित करना महत्वपूर्ण निर्णय है और ध्यानाकर्षक बात यह है कि ये स्त्रियों द्वारा लिए गए हैं। अपने 'प्राक्कथन' में वीरेन्द्र सक्सेना ने माना है कि इन कहानियों में इक्कीसवीं शती में तेजी से आ रहे परिर्वतनों की द्वन्द्वात्मकता और अनुगूँज भी है। कई कहानियाँ साबित करती हैं कि कथाकार की इस मान्यता में दम है।

कितना दूध, कितना पानी
वीरेंद्र सक्सेना
मित्तल एंड संस प्रकाशन
पटपड़गंज, दिल्ली
मूल्य : 300/

हिंदी कहानी के 100 वर्ष, राजेंद्र यादव : कथा यात्रा, रामदरश मिश्र रचना समय, हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण तथा अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित। 'अभिनव प्रसंगववश' त्रैमासिक पत्रिका का डेढ़ दशक से संपादन। अलीगढ़ में रहते हैं।
संपर्क : 09837004113

समीक्षा

कविता

संपूर्ण क्रांति और रेलगाड़ी के बीच का अंतर

■ चंदन श्रीवास्तव

मन में एक रटी-रटायी पंक्ति गूंजने लगती है- आखिर, इस किताब की पॉलिटिक्स क्या है? हैरत नहीं कि कविताओं की किताब बाग़-ए-बेदिल हाथ आई तो ऐसा ही हुआ। किताब भारी-भरकम है-आकार से भी और आवाज में भी। भार उठाने की हिम्मत नहीं हुई। सोचा, चलो किसी और के लिखे से काम चलाते हैं। और इसी फिराक में नज़र अटकी बाग़ ए बेदिल पर कवि अरुणकमल की टिप्पणी के एक टुकड़े पर कि कवि कृष्ण कल्पित ने ''अतीत को वर्तमान में ढाल दिया है और वर्तमान को अतीत में ढालकर उसे व्यतीत होने से रोका है, इसलिए हर कविता कई कालों में प्रवाहित होती है।'' कहते हैं बदलाव सृष्टि का नियम है। अपनी इतिहास-प्रदत्त स्थिति के कारण आप उससे सहमत-असहमत हो सकते हैं। सो, अरुणकमल की पंक्ति को पढ़कर लगा कृष्ण कल्पित की कोशिश समय के अनवरत घूमते पहिए को थाम लेने की है। लगा, कृष्ण कल्पित अपने खास समय के भीतर बदलाव के किसी रंग-ढंग से असहमत हैं और 'कविता के कुरुक्षेत्र' में उस बदलाव पर जीत हासिल करने के लिए उतरे हैं।

लेकिन, कृष्ण कल्पित का अपने कवि और कविता के बारे में ख्याल ऐसा निष्कर्ष निकालने से रोकता है। अपने कवि-कर्म को लेकर कल्पित साहब का कहना है कि - 'ये कवितायें एक उपेक्षित और दीवार से लगा दिए गए कवि की प्रति-कवितायें हैं।' और ''इन कविताओं में शब्दों का आयुधों और अस्त्र-शस्त्रों की तरह उपयोग आत्म-रक्षार्थ ही हुआ है... किसी दुश्मन, किसी भूखंड, या कीर्ति को विजित करने के लिए नहीं। हर कवि को अपने एक कवच का निर्माण करना पड़ता है और कविता-साधना तो निश्चय ही किसी निंरतर युद्ध से कम नहीं..।'' आगे परंपरा का निजी-पाठ करते हुए उन्होंने यह भी जोड़ा है कि- ''प्रागैतिहासिक काल से ही कविता से तीर-तमंचों का काम लिया जाता रहा है- आत्मरक्षार्थ या मानवता की रक्षा के लिए।'' इस शुरूआती पाठ में अगले अनुच्छेदों तक कोशिश रहेगी कि बाग़-ए-बेदिल को कृष्ण कल्पित के आत्म-वक्तव्य के प्रति ईमानदार रहते हुए पढ़ने की कोशिश हो और यह निष्कर्ष निकालने की हिम्मत जुटायी जाए कि अतीत को वर्तमान में ढालना या फिर वर्तमान को अतीत में ढालकर उसे व्यतीत होने से रोकना कल्पित की कविता की पॉलिटिक्स के भीतर एक प्रक्रिया है, परिणति कत्तई नहीं।

बाग़-ए-बेदिल के अपने पाठ की शुरूआत इस प्रश्न से करें- कृष्ण कल्पित को क्यों लगता है कि उनकी कविताएं एक उपेक्षित दीवार से लगा दिए गए कवि की प्रति-कविताएं हैं? अपनी भारी-भरकम काया में सैकड़ों कविताओं को समेटने वाली इस किताब का उत्तर एक शिकायत सा कह लें, फरियाद की शक्ल में सामने आयेगा।

उस देश में जेबकतरों की तरह कवियों ने भी अपने इलाके बांट रखे थे, मी लार्ड। वहां गिरहकटों, पिंडरियों, मवालियों, कबाड़ियों और हलकटों को कवि कहने का रिवाज था, हुजूर।

और, कवियों से उस देश में अपराधियों का सा सलूक किया जाता था, महोदय!...

कबाड़ीपन और कवि-कर्म के बीच का भेद क्योंकर मिट रहा है? बाग़-ए-बेदिल का उत्तर है-

'यह विचार विपथता इसलिए थी, कि वह उस जनपद का नहीं, दस जनपथ का कवि था, सार्त्र।

बाग़-ए-बेदिल की कविता विपथता का कारण विपर्यय में खोजती है। 'जनपद' (याद करें पुराने वक्तों के महाजनपदों को, देश से राष्ट्र बनने की हिंसक प्रक्रिया को, मेट्रोपॉलिटनी सार्वभोमिकता से स्थानीयता को बचाये रखने की जुगत को) और 'दस जनपथ' (10 डाऊनिंग स्ट्रीट (लंदन से निकले लोकतंत्र/आधुनिकता की भारतीय अनुकृति का नया संस्मरण) के बीच का विपर्यय। जिससे अपेक्षा थी कि 'उस जनपद का कवि' होकर रहेगा। वह 'दस जनपथ का कवि' जिस

बाग़-ए-बेदिल,
कृष्ण कल्पित
अंतिका प्रकाशन,
गाजियाबाद यूपी
मूल्य : हार्ड बाउंड 850/
पेपर बुक 450/

इन्क्लूसिव मीडिया फॉर चेंज, सीएसडीएस में एसोसिएट फेलो। कविताएँ भी लिखते हैं।
संपर्क : 09990141521

समय के भीतर बनने को बाध्य हुआ, उस समय के लक्षण क्या हैं? वह समय कौन-सा है जिसमें कवि हलकट बनने को बाध्य और आतुर एक साथ है? बाग़-ए-बेदिल का उत्तर सुनिए-

जेपी, लोकतंत्र की आँख से ढलका हुआ आंसू था,

जो अब सूख चला है, पार्थ।

'कि जनता आती है' वाले विशाल मैदान में,

अब बाजीगर और रंडियां घूमते हैं।

दरअसल संपूर्ण क्रांति अब एक रेलगाड़ी का नाम है, सार्त्र।

और, ऐसे समय में क्या अघट घट रहा है?

बाग़-ए-बेदिल की मानें तो-

ब्राह्मणों की फौज से जब घिर गई मायावती,

देख लेना एक दिन उसको बना देंगे सती।

बीवियां फिरती हैं दुनिया भर में कत्थक नाचतीं,

और, भारत मां तुम्हारे घर में बर्तन मांजती,

बुझ गये दीपक तो क्या आओ उतारें आरती,

वाजपेयी को मिला सम्मान भारत-भारती।

एक ऐसे समय में जब मर्यादाओं का भयंकर उलटफेर आंखों के आगे हो, कविता और कबाड़ का, कवि और गिरहकाट का अंतर समाप्त हो रहा हो, तो कृष्ण कल्पित के अपने ही शब्दों में मानवता के रक्षार्थ कविता और कवि को क्या करना चाहिए? दूसरे शब्दों में, जब व्यवस्था अपने बाशिन्दों को विज्ञापनी भाषा में समझा रही हो कि दरअसल क्रांति एक रेलगाड़ी का ही नाम हैं और वह इस तरह कि तुम अपने जनपद से चलकर दस जनपथ (और उसके पसारे) से निकलकर अपने जनपद के भीतर अबाध आवाजाही कर सकते हो, और इस तरह, मानवीय मुक्ति के एक नये आख्यान में प्रवेश कर सकते हो, तो इस भाषा की काट में क्या करे? किन शब्दों से बने कौन-से आयुध लाये? इस प्रश्न का उत्तर खोजने चलें तो एक रास्ता खुलता है जिसपर चलकर आप कह सकें कि अतीत को वर्तमान में ढालना और वर्तमान को अतीत में ढालकर उसे व्यतीत होने से रोकना दरअसल कृष्ण कल्पित की कविता के लिए एक प्रक्रिया है और परिणिति है उस भाषा को हासिल करने की कोशिश करना जो मुक्ति की प्रचलित भाषा की काट में खड़ी हो।

कल्पित इस भाषा को खोजने के लिए बार-बार अतीत की कविता के उस्तादों के पास लौटते हैं। चाहें तो कह लें, शेखावटी, जयपुर, पटना जैसे 'उस जनपद' का अपना घर ''लुटियन दिल्ली'' के जोर से लुट जाने का गम गलत करने के लिए किसी पीर-फकीर-शायर की मजार पर बैठना चाहते हैं। वहां झरने वाली निबौलियों को उठाकर पूरे हिन्दुस्तान की कविता की रिवायत के भीतर बे दर-ओ-दीवार का एक घर बसाना चाहते हैं। उन्हें उम्मीद है, वहां से प्रचलित भाषा की काट करने वाली एक भाषा मिल सकेगी। यही वजह रही होगी जो पुस्तक के शीर्षक में आया शब्द बेदिल किताब के हर्फों में एक कहानी लेकर जिन्दा होता है। कहानी कविता के भेष में कुछ यों है कि -

औरंगजेब के बड़े बेटे आजमशाह ने, बेदिल अजीमाबादी/देहलवी को मिलने के लिए बुलाया तो बेदिल ने यह मिसरा लिख भेजा, पार्थ।

दुनिया अगर देहेन्द न जुम्बम ज जाए खीश-मन बस्ता अम हिनाए-किनायत ब जायें खीश (दुनिया भी अगर दे दो तब भी मैं अपनी जगह से नहीं हिलूंगा क्योंकि मैंने अपने पांवों में सब्र की मेंहदी लगा ली है)

कविता के भीतर इस कथा की पुनर्वासी करके कल्पित एक साथ कई काम करते हैं। एक तो वे आपके मन के भीतर पैठी ऐसी अनेक कथाओं के लिए राह खोलते हैं। इस कथा को पढ़कर विरला ही होगा जिसके मुंह पर यह पंक्ति ना आये -- आवत जात पनहिया टूटी बिसर गयो, हरिनाम-संतन को कहा सिकरी सो काम। किसी को मिर्जा ग़ालिब का यह शेर भी याद आ सकता है- हजार कस्द करता हूं इस जा से कहीं और जाने का- दिल कहता है तू जा मैं नहीं जाने का। और, बेतरतरीबी के तर्क से मन के किसी कोने में बैठा 'अंगद का पाँव' भी याद आ सकता है। तेजरफ्तारी मगर आज के जीवन और जगत को परिभाषित करने वाली वर्चस्वकारी भाषा है तो फिर कृष्ण कल्पित की कविता उस्तादों के पास जाकर वहां से उनके ठहराव ढूंढ़ लाते हैं। कोई बेदिल की तरह सब्र की मेहँदी लगाकर ठहरा है, कोई किसी भक्तिकवि की तरह रामकथा में रमने की वजह से ठहरा है तो कोई ग़ालिब की तरह नये-पुराने के पस-ओ-पेश में पड़कर ठहरा हुआ है। ठहराव का अपना निजी ठौर खोज सकें- इसके लिए कृष्ण कल्पित की कविता कथाओं या कह लें काव्य-पंक्तियों की एक झनकार (शुक्लजी के शब्दों में कहें तो अर्थ और प्रसंग का गर्भत्व) रचती है। कल्पित की कविताओं (बाग़-ए-बेदिल में) के शब्द और पंक्तियां 'अर्थ' और 'प्रसंग' खोजने के क्रम में जब 'आखर' तलाशती हैं तो एक पूरा सिलसिला कायम हो जाता है, पूरब की कविता के रुप-शिल्प, कथ्य और वस्तु को सुनने-सुनाने का। कवि अपनी तरफ आखर और अरथ की पूरी परंपरा सौंपने को उत्सुक है ताकि पाठक अपने समय के विपर्यय के विरुद्ध नये सिरे से रचने और लड़ने के लिए तैयार हो सकें।

आखिर में एक बात दो शब्द ''पार्थ'' और ''सार्त्र'' पर। बाग-ए-बेदिल की कविता का स्थापत्य इन दो शब्दों के बिना संभव नहीं। जैसे कबीर की कविता में संबोध्य का चयन (साधो, संत, पांडे/बांभन) के अनुकूल कविता की वस्तु बदलती है, साथ

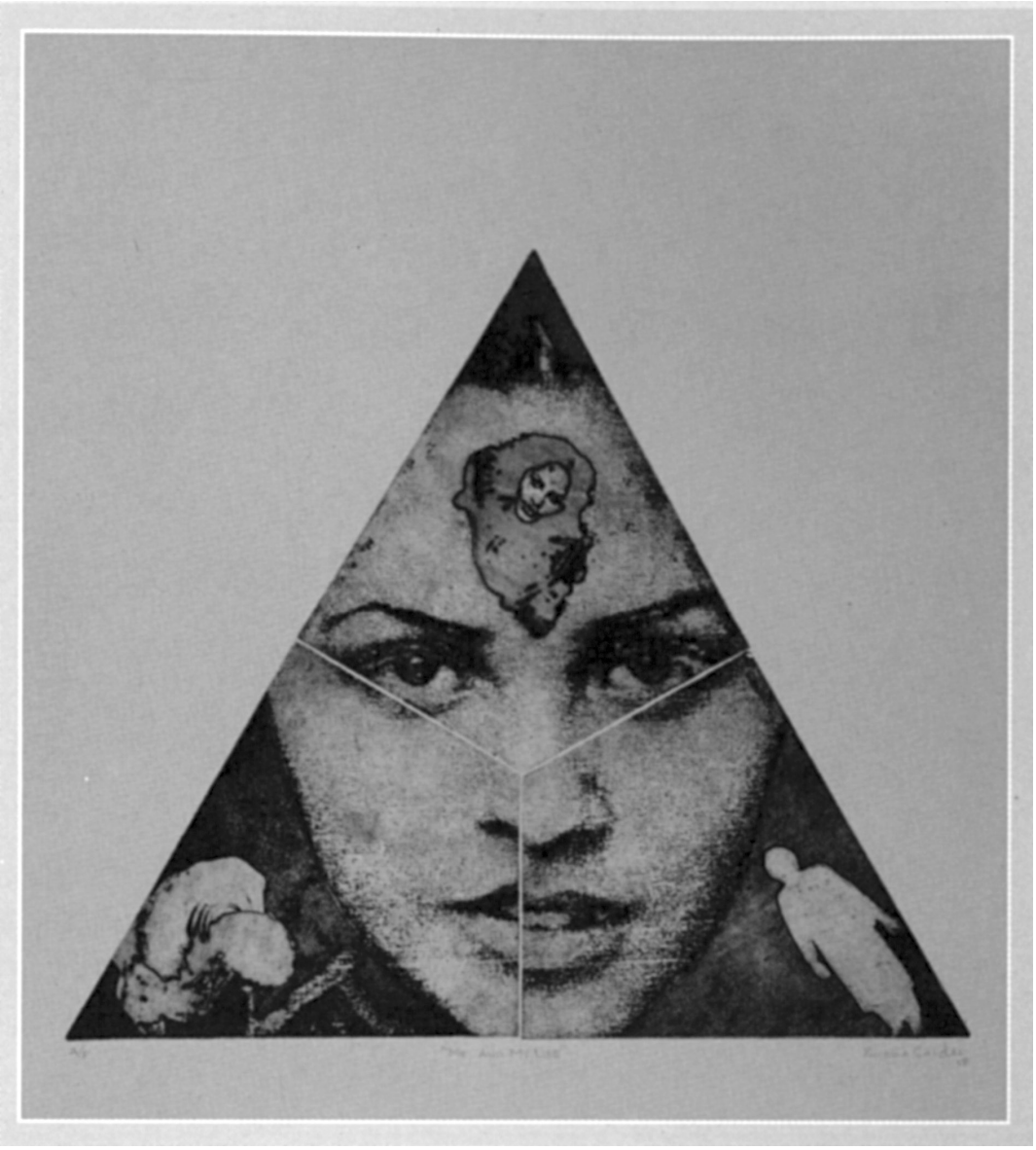

■ *जुनारिया सरदार (पाकिस्तान) का फोटो इचिंग*

ही इन शब्दों के आने के साथ मानो विषय की घोषणा हो जाती है, ठीक उसी तरह कृष्ण कल्पित के बाग़ - ए - बेदिल में 'पार्थ' और 'सार्त्र' कविता की बनावट के दो पाट हैं, और अपने नाम के अनुकूल वस्तु को धारण करते हैं। पार्थ, कुरुक्षेत्र यानि भावी महाविनाश की आशंका के बीच किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा पात्र है, कृष्ण उसे कर्तव्य का उपदेश देते हैं- युद्धस्व...। आशंका सार्त्र के साथ भी है। दो विश्वयुद्धों के बीच खड़ा एक चिन्तक जिसकी आंखों के आगे आधुनिकता प्रदत्त मानव - मुक्ति का राज्यसत्ता / विज्ञान उद्योग का चरित्र उजागर हुआ और आधुनिकता प्रदत्त मानव - मुक्ति का आख्यान हिरोशिमा परमाणु बम के धमाके के साथ दम तोड़ गया। पार्थ के सामने अपने समय की मर्यादाओं के भंग होने का संकट खड़ा हुआ था तो सार्त्र के सामने नई मर्यादाओं के भंग होने का संकट, वे मर्यादाएं जिनका वादा था - हमारे चौखटे में रहो, मुक्त हो जाओगे। आधुनिक और प्राचीन, दोनों ने मुक्ति शब्द के साथ छल किया - इस बात के दो गवाह कृष्ण कल्पित की कविता में 'पार्थ' और 'सार्त्र' हैं। दोनों को हाजिर-नाजिर जान, बाग़-ए-बेदिल कभी पीड़ा, कभी व्यंग्य, कभी पुकार तो कभी ललकार और कई बार हिकारत के स्वर में बोलती है।

जाहिर है, ग्लोबल गांव होने की जिद में पड़ी दुनिया के विस्थापितों/शापितों की जगतपीड़ा और आत्मपीड़ा में नाभिनाल रिश्ता बैठाने को बेचैन यह यायावर कवि कृष्ण कल्पित अपने ठौर के तौर पर पार्थ और सार्थ को ही चुन सकता था।

आपके घर का पुस्तकालय : हिंदी समय डॉटकाम

तुम्हें खोजता था मैं,
पा नहीं सका,
हवा बन बहीं तुम, जब
मैं थका, रुका ।
- सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

स्मृति और विचारों का प्रवाह ही तो जन्म देता है लेखन को, आज जब समय का प्रवाह हमें साँस लेने भर की फुर्सत नहीं देता तो कल्पनाओं का ये रचनात्मक संसार ही सुख का बोध कराता है। हिंदी साहित्य को अगर देखें तो पुरातन, मध्यकालीन और समकालीन तीनों समय से प्रचुर रचनाएँ हमारे पास एक धरोहर है। अपने आगे आने वाली पीढियों के लिए और अपने समकालीन सभी पाठकों के लिए।

आज जहाँ हिंदी प्रकाशन तेजी से फल फूल रहा है वहीं कई महत्वपूर्ण कृतियाँ या तो उपलब्ध नहीं हैं या किसी सरकारी ग़ैर सरकारी पुस्तकालय में पड़ी धुल फाँक रही है। हिंदी के पाठक ये शिकायत हमेशा करते हैं कि उनकी मनचाही पुस्तकें, उनके पसंदीदा लेखक उपलब्ध ही नहीं हैं। www.hindisamay.com मुख्यतः दो कारणों से बनाया गया। एक तो उन्नत हिंदी साहित्य को उसके पाठकों तक पहुँचाना और दूसरा उद्देश्य था हिंदी साहित्य में संजोकर रखने योग्य धरोहर को एक स्थान देना। यह वेबसाईट हिंदी भाषा और साहित्य को अंतरराष्ट्रीय पाठकों तक पहुँचाने और आज के तकनीकी पसंद पीढ़ी को हिंदी लेखकों से जोड़े रखने का काम भी बखूबी कर रही है।

विलक्षण कवि-आलोचक मलयज की समीक्षा है यहाँ, तो त्रिलोचन की अनुभूति का पका हुआ रूप भी, शेखर-एक जीवनी, जिसकी सह-अनुभूति क्षुब्ध संवेगों के घात-प्रतिघात के स्तर पर ही नहीं, विवेक युक्त अंतदृष्टि के स्तर पर भी की जा सकती है। यहाँ मुक्तिबोध की कविता, अद्‌भुत संकेतों भरी, जिज्ञासाओं से अस्थिर कभी दूर से ही शोर मचाती, कभी कानों में चुपचाप राज की बातें कहती चलती है, तो निम्नमध्यवर्गीय जीवन के अद्‌भुत चितेरे अमरकांत के व्यापक अवदान की याद भी आती है।

निबंध ऐसी साहित्यिक विधा है जो कभी हिंदी साहित्य की केंद्रीय विधा हुआ करती थी। पत्र और डायरी ऐसी गद्य विधाएँ हैं जहाँ उनका लेखक सर्वाधिक निहत्था होता है। यहाँ निजी और सार्वजनिक के बीच की दूरी खत्म हो जाती है वहीं किसी उपन्यास का किशोर नायक रोजगार और अपनी निजी पहचान की तलाश में दरबदर भाग रहा होता है। इस निजी पहचान का एक सामुदायिक चेहरा भी है जिसे कई बार उसे छिपाने के लिए विवश होना पड़ता है। इस तलाश और भागने के बीच प्रेम और पहचान की तलाश सिर्फ उस लड़की के साथ प्रेम की तलाश नहीं है जिससे कि वह प्रेम करता है बल्कि उस देश काल और समाज के बीच भी प्रेम की तलाश है जिसमें कि वह रहता है।

यह वेबसाइट 14 अलग अलग खंडो में रचनाएँ पा. ठकों को उपलब्ध कराती हैं। उपन्यास, कहानियाँ, काव्य, नाटक, समीक्षा, भक्ति साहित्य के अलावा अन्य भाषाओं से अनुवाद और जिसे किसी एक लड़ी में न पिरोया जा सके उनके लिए एक अन्यान्य खण्ड भी है। हिंदुस्तानी विरासत जब हम कहते हैं तो भाषा की शुद्धता हमारा मतलब कतई नहीं है। कई बार जन साधारण की 'देशज' भाषा में ही उत्कृष्ट साहित्य का सृजन हुआ है। ये न उर्दू है न हिंदी, बल्कि दोनों भाषाओं के लोकप्रिय शब्दों का इनमें समावेश है। हिंदुस्तानी संस्कृति, जिसकी महात्मा गांधी पुरजोर वकालत करते रहे, एक पुल है हिंदू और मुस्लिम संस्कृति के बीच।

इस वेबसाइड में कोशिश की गई है कि यात्रा वृत्तांत, जीवनी, लेख इत्यादि अन्यान्य के हिस्से में रखे जा सकें। लेखको की पांडुलिपियाँ, जो उनके ही हाथो लिखी गई हैं, उनकी चिट्ठियाँ, और अन्य ऐसे आलेख भी इकठ्ठा किए गए हैं।

कुल मिलाकर यह वेबसाइड असल में व्यक्तिगत पुस्तकालय है जो अपनी सामग्री संचयन में न केवल समृद्ध है बल्कि हर शुक्रवार इसमें विभिन्न विधाओं की नई सामग्री अपडेट होती रहती है। यह पूर्णतया : निःशुल्क है और कोई भी इसमें उपलब्ध सामग्री का प्रिंट आउट निकाल सकता है। साहित्य के रसिकों और शोधाथियों के लिए यह किसी वरदान से कम नहीं है।

लेखकों की विवरणिका भी www.hindisamay.com का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसमें लेखकों के नाम, तस्वीरें, मुख्य कृतियाँ, उनका पता और फोन नंबर उपलब्ध है।

■ **तेजी ईशा**

प्रकाशन चक्रव्यूह

क्यों नहीं आ रहा है बाहर का साहित्य

■ प्रांजल धर

इस नव-उदारवादी समय में व्यवसाय का मतलब ही यही है कि अगर आपका व्यवसाय तथाकथित राज्य की नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के अनुकूल है, शासन-सत्ता के प्रति आक्रोश को नहीं भड़काता है तो आपके व्यवसाय को सरकार का संरक्षण भी मिल सकता है और गाहे-बगाहे अगर कोई मन्दी वगैरह आती है तो आप बेल-आउट पैकेज के अधिकारी भी हो सकते हैं। आमतौर पर किसी व्यवसाय पर लागू होने वाली बातें प्रकाशन के व्यवसाय पर भी समान रूप से लागू होती हैं। हालांकि यह बात भी गौरतलब है कि प्रकाशन का व्यवसाय दूसरे व्यवसायों से अपनी बुनियादी प्रकृति में कुछ भिन्न है। मसलन, यह बुद्धि और विचार जैसी अमूर्त चीजों की खरीद या बिक्री से सम्बद्ध हो सकता है। यहाँ हम वैसे विचारों की बात नहीं कर रहे हैं जो अपनी प्रकृति में ही विज्ञान से जुड़े होते हैं, अनुसन्धान से सम्बन्धित होते हैं या जहाँ पेटेण्ट वगैरह के मुद्दे उठने लगते हैं। इसके उलट प्रकाशन में जीवन का मानविकी वाला कोण स्वीकार किया जाता है। मानविकी की चीजें मानव-स्वभाव, उसकी वृत्तियों और उसकी जटिलताओं से लबरेज होती हैं चाहे वह किसी भी कहानी संग्रह का मुद्दा हो, या फिर कविताओं और अन्य साहित्यिक विधाओं का सवाल। कार्य-कारण सम्बन्धों पर आधारित होने की वजह से विज्ञान में तो भविष्यवाणी भी की जा सकती है लेकिन प्रेम, दया, करुणा या न्याय-अन्याय जैसी मानवीय अवधारणाओं के बारे में कोई भी भविष्यवाणी करना शायद मूर्खता ही होगी।

प्राइस, प्लेस, प्रोडेक्ट, प्रमोशन और प्रजेण्टेशन (जिसे प्रकाशन व्यवसाय के फ़ाइव पी'ज कहा जाता है) पर आधारित प्रकाशन व्यवसाय ने समय की नब्ज पकड़ने की कोशिश की है। हिन्दी में प्रजेण्टेशन पर इतना ज्यादा जोर है कि तरह-तरह के नए लेबल लगाकर पुरानी और घिसी-पिटी चीजों को ही अक्सर प्रकाशकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। सुन्दर आवरण देखकर किताब हाथ में लीजिए और लगभग हरेक पृष्ठ पर लिंग की या वर्तनी की तमाम अशुद्धियां दिखने लगेंगी। हाल ही में इसका एक नमूना देखने में आया जब एक प्रतिष्ठित प्रकाशक ने एक चलताऊ किस्म की लेखिका की पुस्तक के पहले ही संस्करण में कुछ प्रतियां बिकने के बाद कवर ही बदल दिया। इतना ही नहीं, फ्लैप पर लिखी सामग्री भी बदल दी ताकि उसे अधिक आकर्षक और परोसने योग्य बनाया जा सके। लेकिन इतना तिकड़म लगाने के बावजूद आज भी लगभग सभी हिन्दी प्रकाशक एक विशेष कोण से बहुत ही दरिद्र हैं। वे बाकी दुनिया में चलने वाले संघर्षों या बाकी दुनिया में रचे जा रहे साहित्य को हिन्दी में अनुदित करके पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में बहुत ही कमतर हैं। हर नियम के अपवाद होते ही हैं और इस बात का भी अपवाद हमें हिन्दी प्रकाशन जगत में मिलता है। हाल ही में पैदा हुआ और तेजी से अपनी पहचान बना चुका दखल प्रकाशन कुछ ऐसे काम कर रहा है जिनसे हिन्दी के अन्य प्रकाशकों को सीखने की जरूरत है, चाहे वे कुकुरमुत्ते वाली श्रेणी के प्रकाशक हों या चार-चार और पांच-पांच ब्रांच ऑफ़िसेज वाले तथाकथित नामी-गिरामी प्रकाशक। दखल प्रकाशन ने हमारी दुनिया और हमारे समय की एक बेहद जरूरी अफ़्रीकी-अमेरिकी लेखिका माया एंजेलो पर अनुवाद की एक शानदार पुस्तक प्रकाशित की है। इससे पहले वह मार्टिन एस्पादा और फ्रियो जैसे बड़े लेखकों की रचनाओं को हिन्दी में अनुदित करके प्रकाशित कर चुका है। हैरत होती है कि कुछ भाषाएं तो ऐसी हैं जिन्हें बोलने और बरतने वाले लोगों की तादाद हिन्दी की तुलना में बेहद कम है लेकिन उस भाषा में अन्य देशी-विदेशी भाषाओं से अनुदित साहित्य हिन्दी भाषा के अनुदित साहित्य की तुलना में कई गुना अधिक समृद्ध है। सवाल है कि इस चक्रव्यूह के पीछे कौन-से कारण हैं।

पहला कारण तो यह है कि हिन्दी का प्रकाशन

प्रतिष्ठित युवा मीडिया विश्लेषक। दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 09990665881
ईमेल : pranjaldhar@gmail.com

जगत मुनाफे पर अतार्किक रूप से केंद्रित है। वह अनुवाद में खर्च करके अपनी लागत नहीं बढ़ाना चाहता। यहां यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि अंग्रेजी या अन्य भाषाओं के प्रकाशक मुनाफे की बजाय किसी समाजसेवा या गुप्तदान की भावना से प्रेरित होकर खुद को संचालित करते हैं। मुनाफे की केन्द्रिकता तो अंग्रेजी में भी है ही क्योंकि अन्ततः वे भी व्यवसाय ही कर रहे हैं। लेकिन उनका बाजार-सर्वेक्षण कहीं अधिक भेदन क्षमता से युक्त होता है, उनमें जोखिम उठाने का कहीं अधिक साहस होता है और वे पुस्तकों को बेचने की रणनीतियों से कहीं अधिक वाकिफ होते हैं। इसका नमूना हम इस शक्ल में भी देख सकते हैं कि विश्व के विशालतम लोकतन्त्र दिल्ली में चुनिंदा मेट्रो स्टेशनों पर जो बुक स्टाल मौजूद हैं वे तमाम ऐसी अंग्रेजी किताबों का प्रचार करते नजर आते हैं जो गुणवत्ता में हिन्दी की पुस्तकों से बहुत पीछे हैं। यह ठीक है कि बाजार में कल्पनाएं नहीं चलतीं, लेकिन बाजार में भी कल्पनाओं और सपनों को बेचा जा सकता है। बाजार तो नफा-नुकसान की ठोस और यथार्थमूलक ईंटों पर ही आधारित होता है। नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के पीछे रहने वाले मिल्टन फ्रीडमैन या एफ. ए. हेयक जैसे लोगों का चिन्तन ही यही है कि बिगड़ती चीजों या घटते व्यापार को कैसे सँभाला जाए या जब राज्य बाजार के अहित में काम करने लगे तो कैसे राज्य की भूमिका को न्यूनतम कर दिया जाए। इसे ही प्रचलित भाषा में 'रोलिंग बैक ऑफ द स्टेट' कहा जाता है।

दूसरा कारण यह है कि शासन-सत्ता और व्यवसाय शब्दों से खेलते हैं। यह दुनिया के प्रकाशक ही हैं जिन्होंने गरीबों के लिए मुसीबतें पैदा करने वाली इन ख़तरनाक आर्थिक नीतियों को उदारवादी कहा। जबकि उदार शब्द का अर्थ तो सकारात्मक होता है, उससे कहीं न कहीं कल्याण की भावना जुड़ती है। लेकिन क्या कहा जाए? असल में प्रकाशक भी क्या करें, क्योंकि अब शब्दों से ज्यादा शब्दों के शव ढोए जाते हैं। और शवों के अनुवाद में या अन्तरराष्ट्रीय सीमाओं के उस पार के साहित्य को यहां लाने में उनकी कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। तसलीमा नसरीन जैसे विवाद के कारण हवा पाने वाले एकाध लेखक-लेखिकाओं की बात को छोड़ दें, तो बाहर की दुनिया से हमारा साहित्यिक जुड़ाव चिन्तनीय स्तर तक कम है। हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा प्रकाशक मौजूद हो जो शब्द, मौन, संवाद और शोर में अन्तर को समझता हो या उसे समझने के लिए हाथ-पांव मारता हो। वह पारिभाषिक शब्दों के लिए एक शब्दकोष तो छाप सकता है लेकिन उन शब्दों के अर्थों की तहों में जाने का न तो उसके पास समय है और कहना चाहिए कि न ही योग्यता। यह अकारण नहीं है कि हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिसमें कुछ प्रतिष्ठित लेखकों को अपने प्रकाशन-गृह तक खोलने पड़े। और अकारण तो यह भी नहीं है कि उनके वे प्रकाशन गृह असफल हो गए।

तीसरा कारण लेखकों और प्रकाशकों के बीच के अतार्किक सम्बन्ध हैं। ये सम्बन्ध बहुधा लेखन से इतर दूसरी वजहों पर आधारित होते हैं और अपारदर्शी होते हैं। रॉयल्टी के तमाम विवाद इसी अपारदर्शिता के परिणाम हैं। यह अपारदर्शिता अनेक निराधार चीजों पर आधारित होती है। मसलन, रसरंजन जैसी पार्टियों में कौन-सा लेखक प्रकाशक को कितना रिझा सकता है, कौन-सा प्रकाशक ऐसी पार्टियों में लेखकों या लेखिकाओं को कितना आश्वासन दे सकता है। हैरत होती है कि ये आश्वासन सिर्फ देने के लिए होते हैं, इनको निभाने की जहमत उठाने की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। और इससे भी बड़ी हैरत की बात तो यह है कि जब यह शुरुआती बातचीत होती है तब हिन्दी लेखकों को लगता है कि किसी तरह उनकी किताब छप जाए। जाहिर-सी बात है कि यह छपना मूल भाषा में छपना है, किसी अनुवाद या अधिक श्रम के रास्ते से आकर छपना नहीं है। तथाकथित मूल भाषा वाले लेखकों को भीतर तक यह मिथ्याभिमान रहता है कि जब एक बार उनकी किताब प्रकाशित होकर बाजार में आ जाएगी तब क्रांति तो अपने-आप ही हो जाएगी। कभी घटित न हो सकने वाली ऐसी क्रांति के बारे में उनकी धारणाएँ बहुधा फेसबुक जैसे जनमाध्यमों पर कृत्रिम रूप से गढ़ी गई राय होती है।

चौथा कारण लेखकों या प्रकाशकों की उस सेटिंग की योग्यता है जिसके तहत वे सरकारी खरीद को अंजाम देकर पुस्तकों को पुस्तकालयों या विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में लगवा सकते हैं। और जब पुस्तकालयों या विश्वविद्यालयों में किताब को शामिल करवाने की बात आएगी तो लोग अपनी-अपनी किताबों के लिए दौड़ेंगे या फिर किसी बाहरी किताब के लिए अपनी मेहनत 'बेकार' करेंगे! असल में यह पूरा तन्त्र ही आत्ममुग्धता से ग्रस्त इस कदर अतार्किकताओं पर आधारित है कि क्या कहा जाए। अगर लेखक पहुँच वाला है तो वह इस चक्रव्यूह को न सिर्फ बेध ले जाएगा बल्कि किताब के प्रकाशन से पहले ही तमाम प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में उसकी समीक्षाएं भी प्रकाशित हो जाएंगी और किताब के छपकर आने तक किताब काफी चर्चा पा चुकी होगी। जिन्होंने भी हिन्दी की दस-पांच किताबों की समीक्षाएं लिखी होंगी, उन्हें यह बात मालूम होगी कि किस प्रकार लेखक बात-बेबात उसे फोन करके अनावश्यक गुजारिश करते रहते हैं कि भई! मेरी अमुक किताब आ गई है, आप उस किताब पर कब लिख रहे हैं? समीक्षक को तो जैसे यह चुनने का अधिकार ही नहीं है कि वह किस किताब पर लिखे या किस पर न लिखे। कुछ लेखक लेखिकाएं तो महानता की उस श्रेणी में खड़े हैं, जहाँ समीक्षक को पुस्तक की एक प्रति भेजने के बाद उसे ऐसा तंग करना शुरू कर देते हैं मानो अपनी किताब भेजकर उन्होंने समीक्षक पर कोई अहसान कर दिया हो! इन पंक्तियों के लेखक को ऐसे तमाम स्वनामधन्य लेखकों और लेखिकाओं

की पुस्तकें लौटाने पर मजबूर होना पड़ा क्योंकि उन्होंने फोन कर-करके जीना हराम कर दिया था। इससे अन्ततः कोई भी समीक्षक निराश होता है और निष्कर्ष रूप में कहा जाए तो हिन्दी आलोचना के वर्तमान संकट की यह भी एक वजह बनती जा रही है।

अगर हम चाहते हैं कि हम सीमा पार से आने वाले साहित्य से रू-ब-रू हों, देश-दुनिया की कविताओं-कहानियों को जानें-समझें तो हमें इन बिन्दुओं पर गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ेगा। और इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि जो लोग अच्छा लिख रहे हैं, उनको प्रोत्साहन दिया जाए, चाहे वे जिस भी भाषा में लिख रहे हों। गौरतलब है कि दुनिया ने रोमानिया में जन्मी जर्मन कवयित्री और उपन्यासकार हेर्ता म्युलर को तब जाना, जब उन्हें हाल ही में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिल गया, लेकिन लिख वे पहले से ही रही थीं। प्रकाशन के चक्रव्यूह का सामना उन्हें भी जबरदस्त रूप से करना पड़ा था। जब सन् 1982 में उन्होंने अपनी पुस्तक को प्रकाशित करवाने से इंकार कर दिया था। क्योंकि वहां इस पुस्तक में अनावश्यक काट-छांट करने की कोशिशें की गयीं थीं। यह दुखद है कि आज भी म्युलर की रचनाओं की जर्मन भाषायी जगत से बाहर कोई विशेष पहचान नहीं है। क्या यह प्रकाशकों का फर्ज नहीं है कि उनकी रचनाओं को हम सब तक लाएं?

मैं क्यों लिखता हूँ- ओरहन पामुक

■ क्योंकि लिखना मेरी एक आंतरिक आवश्यकता है। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं वे सारे साधारण कामकाज नहीं कर सकता जो अन्य दूसरे लोग करते हैं। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं आप सबसे नाराज हूँ, हर एक से नाराज हूँ। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं इसी तरह वास्तविक जीवन में बदलाव लाने में अपनी हिस्सेदारी कर सकता हूँ।

■ मैं लिखता हूँ क्योंकि मुझे कागज, कलम और स्याही की गंध पसंद है।

■ मैं लिखता हूँ क्योंकि अन्य किसी भी चीज से ज्यादा मुझे साहित्य में विश्वास है। मैं लिखता हूँ क्योंकि यह एक आदत है, एक जुनून है। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं विस्मृत कर दिये जाने से डरता हूँ। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं उस यश और अभिरुचि को चाहता हूँ जो लिखने से मिलती है।

■ मैं अकेला होने के लिये लिखता हूँ।

■ मैं लिखता हूँ, क्योंकि मुझे आशा है कि शायद इस तरह मैं समझ सकूँगा कि मैं आप सबसे, हर एक से, बहुत ज्यादा नाराज क्यों हूँ। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे पढ़ें। मैं लिखता हूँ क्योंकि जब एक बार कुछ लिखना शुरू कर देता हूँ तो मैं उसे पूरा कर देना चाहता हूँ।

■ मैं लिखता हूँ क्योंकि हर कोई मुझसे लिखने की अपेक्षा करता है।

■ मैं लिखता हूँ क्योंकि मुझे पुस्तकालयों की अमरता में एक नादान-सा विश्वास है। और मेरी उन पुस्तकों में, जो अलमारी में रखी हुई हैं। मैं लिखता हूँ क्योंकि जीवन की सुंदरताओं और वैभव को शब्दों में रूपायित करना एक उत्तेजक अनुभव है। मैं लिखता हूँ क्योंकि मैं कभी खुश नहीं रह सका हूँ।

■ मैं खुश होने के लिये लिखता हूँ।

नोबेल लेक्चर से एक संपादित अंश अनुवाद : कुमार अंबुज

स्मृति का तिलिस्मी दरवाजा खोल रहा हूं

पढ़ाई लिखाई

■ **गंगा प्रसाद विमल**

इन दिनों बहुत सारी चीजें पढ़ने में आयी हैं। खासकर वरिष्ठ लेखकों में मुद्राराक्षस का उपन्यास 'अर्द्धवृत्त' पढ़ा। प्रथम पुरुष की शैली में उपन्यास का आरंभ होता है। भारतीय जाति-व्यवस्था के विविध रूप उसमें मिलते हैं। मुद्राराक्षस चूँकि बहुत सुलझे हुए लेखक हैं और वामपंथी रुझान के होने के कारण विशेष सजगता उनके लेखन में झलकती है। 'अर्द्धवृत्त' की कथा में बीसवीं शताब्दी के इतिहास को मोटे तौर पर दो हिस्सों में विभाजित किया गया है- स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रता के बाद के निश्चित खाने में। जातीय दंभ कैसा विष फैलाता है, इसके बहुत सारे चित्र मिलते हैं। एक उदाहरण समाज के सबसे निचले तबके की सुरक्षा का एक नैसर्गिक पक्ष है जिसमें बिना कोई धार्मिक पक्षधरता लिए मुस्लिम परिवार एक ऐसे पक्ष की रक्षा करते हैं जो मुस्लिम नहीं हैं। यह बलात् या पक्षधरता के कारण नहीं है बल्कि यह सब कुछ नैसर्गिक रुप से होता है। इससे सूत्र मिलते है कि हमारा भारतीय समाज वृहत्तर रुप से एक है किन्तु इतना नाजुक या महीन हैं कि उसके टूटने की आशंका हमेशा बनी रहती है।

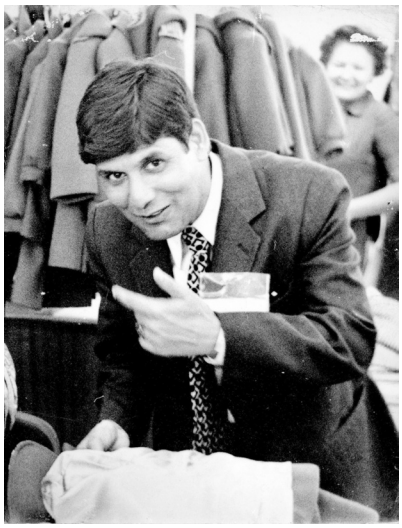

पिछले दिनों जो कविताएं पढ़ी उनमें रजनी अनुरागी, रेणु पंत, सुधा उपाध्याय, स्वाति मेलकानी, ज्योति चावला, नीलम मेंहदीस्ता गुंचा, रेखा चमोली के संग्रह शामिल हैं। संयोग से ये सारे के-सारे संग्रह महिलाओं के हैं। इनसे नये महिला लेखन की जो तस्वीर उभरती है, उसे लेकर यह तो कहना पड़ेगा कि स्त्री सरोकारों की दुनिया उनकी निजी दुनिया से जुड़कर एक प्रकार का प्रमाण भरा सुकून देती ही हैं परन्तु यह निजता पहली पीढ़ी के सीमित अनुभवों से भिन्न हैं। इसलिए कह सकते हैं कि इन युवा हस्ताक्षरों के बिसात के मोहरें घर-परिवार से निकलकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर वैश्विक होती जाती दुनिया के सामने रख दिये हैं। उनमें आप भलीभांति नव-उपनिवेशवाद की पदचापें सुन सकते हैं, आप जान सकते हैं कि पूँजीपति घरानों का तंत्र सत्ताओं के बीच किस तरह अपनी जगह बना रहा है। इसी बीच हमारे समय के बड़े कवि केदारनाथ सिंह का भी नया संग्रह पढ़ने को मिला है- 'सृष्टि पर पहरा'। यह एक तरह से हमारे विश्व की महत्वपूर्ण आवाज़ है जिसकी अनुगूँज राष्ट्रीयताओं की सरहदों के पार सुनी जाती है। केदार जी ने अपनी कविताओं की सादगी को विश्व-कविताओं की उस श्रृंखला के समानांतर खड़ा किया है जहाँ से कविताएँ भाषायी बंधनों से मुक्त होकर विश्व-मानव की संताप-लीला के ताप को कहीं गहरे में बोध के स्तर पर प्रकट करती हैं।

इन दिनों मैं अधलिखे उपन्यास 'घर मेरा परदेस' को पूरा करने में लगा हूँ। साथ-साथ अपनी स्मृति को कुरेदने पर मुझे कुछ बेशकीमती कथाबीज मिले हैं। उन्हें मैंने अपने मस्तिष्क में रोपा है और वे धीरे-धीरे एक वटवृक्ष का रूप धारण कर रहे हैं। मैं मौका पाते ही उन्हें भी एक बड़ी कथा में पिरोने वाला हूँ। लिखना आसान काम नहीं है। यह जानते हुए आनंद बहुगुणित हो जाता हैं। अब मैं कहूँ कि मेरे दादा की छह विवाहित पत्नियों को तो नहीं देखा था पर सातवीं विवाहिता के देहावसान पर मैं इतना बड़ा था कि सातवीं दादी को आज याद करता हूँ। इसमें प्रमाणिक सच यह है कि मैं घोर बचपन में मातृविहिता हो गया था तो माँ के विकल्प के रूप में दादी, ताईयाँ, चाचियाँ, बुआ, मामियाँ, नानी और सारे गाँव की स्त्रियाँ जैसे एक मातृविहिन बालक की सुरक्षा के लिए एकजुट हो गयी हों, स्मृति का यह तिलिस्मी दरवाज़ा जब मैं भड़भड़ाकर खोलता हूँ तो मैं एक दूसरी दुनिया में पहुँच जाता हूँ। ठेठ बालपन में न जाने कितनी सनसनीखेज शरारत करता था। नदी में नहाने के बहते लट्ठे पर मैं सवार रहा हूँ, उनके वृत्तांत लिखने के लिए जीवन कितनी छोटी चीज हैं, मैं इससे भी संतप्त नहीं होता। न सही मैं हज़ार हाथों वाला, लेकिन मेरे पूरे जिस्म में अभिव्यक्ति के अँकुर फूट रहे हैं। पचास साल हो गये होंगे दिल्ली आयें। मुझे लगता है जीवन के शुरूआती हिस्से की स्मृतियाँ ही जीवन पर्यन्त लिखने के काम आती है।

प्रस्तुति : मनोज मोहन

शीर्षस्थ कवि और गद्यकार। कई उपन्यास प्रकाशित। मिलनसार व्यक्ति के धनी विमल जी हर संभव रचनात्मक बने रहने की जद्दोजेहद में खुशमिजाज जीवन जीते हैं।
संपर्क :09312505250

मेरी शाम

■ अजित कुमार

आ रही मेरे जीवन की सांध्य बेला

शाम का नाम लेते ही जो पंक्तियाँ मुझमें सबसे पहले गूँजीं, ये थीं-

''दिवसावसान का समय मेघमय / आसमान से / उतर रही है / संध्या सुन्दरी परी सी / धीरे-धीरे...''

फिर 'हरिऔध' भी याद आए, जिनसे, मुमकिन है, प्रेरणा पाकर निराला ने अपना ठाठ बाँधा हो-

''दिवस का अवसान समीप था / गगन था कुछ लोहित हो चला / तरु-शिखा पर थी अवराजती / कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा''

लेकिन इससे पहले कि अलग-अलग वक्तों और लेखकों के मिजाज या निगाह के अन्तर की तरफ ध्यान जाता, मन में एक हूक-सी उठी, जो ध्यान कहीं और ही ले गई --

''शाम थी कुछ धुवाँ-धुवाँ, हुस्न था कुछ उदास-उदास

दिल को कई कहानियाँ याद-सी आके रह गईं...''

इन पंक्तियों को मैंने जितना ही दोहराया, गुनगुनाया यह सवाल गहराता रहा कि जब सुबहें आम तौर पर धुली-उजली होती हैं, दोपहरियाँ अक्सर अलसाई हुई और जिसे हुस्न कहा जा सके, वह तो होता ही है अधिकतर चटख, शोख और जगमग तो फिर इस दिलजले की शाम 'धुवाँ-धुवाँ' क्योंकर हुई और उसे ऐसा क्या-कुछ दिख गया जो हुस्न को 'उदास-उदास' कर दे.. माहौल का कुछ ऐसा बन जाना जरूरी तो न था कि दिल को मथने-झकझोरने की जगह, कई कहानियाँ सिर्फ 'याद-सी आके रह जाएं'!

चौबीस घंटों वाले हर दिन के महज डेढ-दो घंटों वाले इस वक्त 'शाम' को क्या ईश्वर या प्रकृति ने केवल इसलिए सिरजा था कि वह उसके बन्दों को आत्मलीन होने का अवसर दे और उनमें यह उम्मीद जगाये कि अपने जिस दिव्य और अन्तरंग स्रोत से वे छिटक कर दूर हो गये हैं, उसका कुछ-न-कुछ अहसास तन्मयता के क्षणों में पा सकना सम्भव है ?

तो क्या तन्मयता की ऐसी अनुभूति समूचे दिन में सबसे अधिक जिस वक्त में हो सकती है, वह शाम का ही वक्त है? इस जिज्ञासा के आगे जो अनेक प्रश्नचिन्ह उठ खड़े हुए, उनमें पहला तो यह था कि यदि स्वदेश में उषाकाल या ब्रह्मबेला को पारम्परिक रीति से प्रभु-स्मरण और आत्मलीनता का समय माना गया है तो ऐसा क्योंकर हुआ कि जो शाम कवि को आम तौर से अन्यमनस्क बनाती आई है, वह आज की दुनिया में लगभग हर जगह आनन्द-उल्लास, केलि-क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद का पर्याय हो चली है

ऐसे में, शाम की असली शक्ल क्या और कैसी समझी जाय --'एक पीली शाम... पतझर का जरा टूटा हुआ पत्ता' या 'ये शाम मस्तानी, मदहोश किये जाए' या फिर सबकुछ निर्भर करता है- उस मनोभाव पर जिससे कोई व्यक्ति किसी स्थिति या बेला को रंजित-अनुरंजित कर देता हो ?

उद्धरणों की कोई कमी नहीं - एक खोजो, पचास अनायास उभर आएँगे -- 'सुधि में संचित वह शाम कि जब रतनारी प्यारी सारी में तुम / प्राण / मिलीं गुलमोहर तले' से लेकर 'भोर बेला नदी तट पर घंटियों का नाद, चोट खाकर जग गया सोया हुआ अवसाद' या ''हरित भूमि तृन संकुल समुझि परइ नहिं पन्थ'' या ''वृष को तरनि तेज, सहसौ किरन करि, ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं'' तक हर वक्त, हर मौसम, हर भावना का समारोह या अफसोस या प्रभाव तरह-तरह से चित्रित-निरूपित होता आया है और ऐसा हो सकने की सम्भावनाएं निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं ।

इन सभी निरीक्षणों से भटकते-गुजरते हुए मेरा मन जिस एक जगह रमता और टिकता है, वह है- प्रकृति का स्वायत्त चित्रण और निरूपण। जिस पर बाल्मीकि-कालिदास जैसे महाकवियों का ध्यान विशेष रीति से गया था, यद्यपि अधिकांश परवर्ती लेखन में उसका उपयोग मुख्यतः मानवीय भावनाओं को टाँगनेवाली खूँटी की तरह होता रहा ।

निस्सन्देह, इस नाते प्रचुर प्रभावशाली और मनमोहक लेखन संभव हुआ, पर यह तथ्य नकारा नहीं जा सकता कि चाहे सुबह हो या शाम, प्रबल झंझावात या मन्द-मधुर बयार, शीतल चाँदनी या कड़ाके की धूप प्रकृति और सृष्टि के प्रत्येक व्यापार का अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य दर्शनीय-मननीय-रचनीय होता है। आलम्बन-उद्दीपन विभावों अथवा उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति सफल अलंकारों की सहायता से कवि-लेखक-पत्रकार उस 'अपार' को भाँति-भाँति से बाँधते-समेटते रहे हैं। उनका विशेष प्रयोजन यह रहा है कि मनुष्य शेष सृष्टि से अपने को अलग-थलग न समझे, बल्कि उसका अविभाज्य हिस्सा बन सके। चाहे हेमिंग्वे की रचना 'द ओल्ड मैन एंड द सी' हो या

'मौत का एक दिन मुअय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती।' या ''शमआ हर रंग में जलती है सहर होने तक'' या

कोई अपने आप को प्रतिपाद्य विषय तक ही समेटे रखना चाहे तो वहाँ भी - ''मैं अकेला, देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सान्ध्य बेला'' में भी गूँजती है- किसी-न-किसी रूप में मनुष्य की शाश्वत जीवनेच्छा ही।

''जानता हूँ नदी झरने जो मुझे थे पार करने, कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं भला ।''

प्रस्तुति : म. मो.

कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा संस्मरण और आलोचना में बराबरी से सिद्धहस्त प्रतिष्ठित हस्ताक्षर। अनेक भाषाओं में पुस्तकों का अनुवाद हुआ है। लंबे अरसे से दिल्ली में रहते हैं।
संपर्क : 011-23714369
ईमेल - ajitkumar1933@gmail.com

जो अभी पढ़ा

■ लीलाधर मंडलोई

जीवन का लेखा-जोखा

मैंने हाल में ही जोहरा सहगल की आत्मकथा 'करीब से' पढ़ीं। यह परंपारिक अर्थ में आत्मकथा की तरह नहीं है। बल्कि इसमें कई विधाओं की आवाज़ भी है। ठीक वैसे ही जैसे एक कलाकार अनेक विधाओं के अनुभव से गुजरता हुआ अपने शिखर को पाता है। जोहरा सहगल की आत्मकथा में उनके बचपन से लेकर अब तक की यात्राओं के पड़ावों का अत्यन्त आत्मीय और विसंग लेखा-जोखा है। उनके जीवन में नृत्य और नाटक की अद्‌भुत भूमिका है। उदयशंकर, पृथ्वीराज कपूर, सहगल, बेदी किरण और बेटा पवन के बारे में उनके संस्मरण एकदम बेलौस है। सच को कहने की कूव्वत के उदाहरण पूरी किताब में फैले हुए है। उनकी यात्राओं में लगभग तीन-चौथाई दुनिया की विरल संस्मरणात्मक यात्रा है। खासतौर पर लाहौर से इंग्लैंड की यात्रा का जो अनुभव संसार है वह स्त्री और खासतौर पर मुस्लिम स्त्री के लिए अत्यन्त साहसपूर्ण है। हालांकि जोहरा सहगल इंग्लैंड की बजाय अपनी यात्रा जर्मनी की तरफ मोड़ देती हैं, जहां उन्हें डांस सीखना था। एक बड़े कैनवास पर यह आत्मकथा किसी संसार की खिड़की से दुनिया की तरफ़ खुलती जाती है जिसमें पूरी ईमानदारी से उदयशंकर के नाटकों, पृथ्वी थियेटर, इप्टा, फिल्मी दुनिया और दिल्ली के थियेटर के अलावा नाट्य शिक्षक और समीक्षक के रूप में उनका व्यक्तित्व आकार पाता है। अपने समूचे जीवन में वे जिस तरह से पृथ्वी थियेटर के नाटक दीवार, पठान, गद्दार, आहुति, किसान, कलाकार और पैसा के बाईस सौ बासठ प्रदर्शनों की यादें और पृथ्वीराज की सो. हबत के थियेटर का सफ़र बेहद ईमानदारी के साथ उनकी किताब में आता है। पति कामेश्वर सहगल की मृत्यु के बाद के त्रासद दिनों की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक है। वस्तुतः यह आत्मकथा जोहरा सहगल के महाकाव्यात्मक जीवन की अनूठी अभिव्यक्ति है। इस किताब में जो प्रसंग, स्मृतियाँ, घटनाक्रम और यात्राओं की विरल यादें हैं, उनके एक नहीं अनेक अर्थ हैं जो पाठ के बाहर उपस्थित हैं। उन पंक्तियों के बीच समानांतर उपकथाएँ हैं जो लिखने से छूट गयी हैं। उम्मीद है कि इसका दूसरा हिस्सा पाठकों के सामने आएगा।

प्रस्तुति : म. मो.

वरिष्ठ कवि। दुरदर्शन पर महत्वपूर्ण पदों पर रहने के उपरांत इन दिनों भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक और 'नया ज्ञानोदय' के संपादक।
संपर्क :09818291188
ईमेल -leeladhar mandloi@gmail.com

पाठक के नोट्स

जिंदगी और पुस्तकें

जब मां पास नहीं होती तो किताबें मां हो जाती हैं जब कोई प्रेमी नहीं होता तो किताबें प्रेमी बन जाती हैं

■ **मनीषा पांडे**

कुछ दिन हुए किताबों के महामेले से लौटी हूं। पुस्तक मेले में जाना मेरे लिए किसी उत्सव की तरह होता है, हालांकि जानती हूं कि वहां से मनों निराशा और टनों उदासी के साथ वापस लौटूंगी। हिंदी किताबों का संसार हजार-हजार फांस बनकर आंखों में चुभता रहता है। छुटपन से इसी सपने के साथ बड़ी हुई थी कि बड़ी होकर लेखक बनूंगी, पर जैसे-जैसे बड़ी होती जाती हूं, लेखक बनने का सपना किसी बीहड़ बियाबान में गुम होता जाता है। पत्रकार बनूंगी, सोचा भी नहीं था, पर वक्त के साथ पत्रकारिता की दुनिया में तथाकथित नाम कमाने और पैसा पीट लेने के सपने न सिर्फ सिर उगाते हैं, बल्कि थोड़ी सी तिकड़मों के साथ उन्हें पूरा करने की राहें भी हर दिन खुलती नजर आती हैं।

पर मुझे अखबार से ज्यादा किताबों से प्यार है।

होश संभालने के साथ ही मैंने पाया था कि किताबें झाड़ू और कलछी की तरह ही एक कमरे के हमारे मामूली से घर का हिस्सा थीं। मुश्किल से 12 बाई 12 के एक कमरे में मेरे मां-पापा की समूची गृहस्थी थी, जिसका एक बड़ा हिस्सा किताबों से पटा हुआ था। ऊपर टाण पर, मेज पर, कमरे के कोने में ईंटों पर लकड़ी के पटरे रखकर बनाई हुई शेल्फ पर किताबें सजी रहती थीं। लकड़ी पर अखबार बिछाकर पापा करीने से मार्क्सवाद, दर्शन और इतिहास की किताबें रखते थे। जब भी वो घर पर होते तो किताब पढ रहे होते थे या किसी दोस्त के साथ उन किताबों पर कुछ ऐसी उलझी बहसें कर रहे होते, जिसका सिर-पैर भी मेरी समझ में नहीं आता था। मां चुपचाप उसी कमरे के एक कोने में, जहां रखा एक स्टोव, कुछ डिब्बे और बर्तन उसे रसोई जैसा आभास देते थे, में सिर झुकाए चाय बनाती या सब्जी छौंक रही होतीं। मां को वो बातें कितनी समझ में आती थीं, पता नहीं। लेकिन उन्ही में से कुछ किताबों के अंदर पिता से छिपाकर वक्ती-जरूरत के लिए कुछ पैसे रखने के सिवा मां के लिए उनकी कोई खास सार्थकता थी, पता नहीं। वो अकसर किताबों के इस कबाड़ को लेकर नाराज होती रहती थीं, जिसे दिल्ली, खुर्जा, गाज़ियाबाद से लेकर अब इलाहाबाद तक पापा साथ-साथ ढोते रहे थे। पापा जिस भी दिन कोई नई किताब खरीद लाते, मां बहुत चिक-चिक करतीं। एक ढंग का पंखा भी नहीं है, सड़ी गर्मियों में भी इस टुटहे टेबल फैन से काम चलाना पड़ता है। ये नहीं कि एक तखत खरीद लें, एक

गैस का चूल्हां। स्टोव के धुएं में आंखें फोड़ती हूं। पर इन्हें अपनी किताबों में आंखें फोड़ने से फुरसत नहीं। मां झींकती, पर उन किताबों की देखभाल वही करती थीं। एक-एक किताब कपड़े से साफ करके करीने से रखतीं, उनकी धूल झाड़ती, दीमक और फफूंद से बचाने के लिए धूप दिखातीं। लेकिन शाम को पापा फिर कोई नई किताब ले आते और मां की झकबक शुरू हो जाती।

ऐसे आदमी से ब्याह करके उनकी किस्मत फूट गई है, जिसे इन मरी किताबों के अलावा जीती-जागती मां की कोई परवाह नहीं है। शादी के दस सालों में पापा ने उन्हें एक साड़ी भी नहीं दिलाई। जो कुछ भी है, उनकी मां का दिया हुआ है वरना पापा तो निरे फोकटिया ठहरे। मैं सचमुच इस बात पर यकीन कर लेती कि मां पापा को फोकटिया ही समझती हैं, अगर एक बार मैंने मुंबई में नानी के यहां, नानी के ये कहने पर कि तुम्हारा पति तो बिलकुल निठल्ला है, खास कमाता नहीं और जो कमाता है, सब किताबों पर फूंक देता है, मां को जवाब में ये कहते न सुना होता कि उन्हें अपने पति पर बहुत गर्व है। मां ने उनमें से कुछ किताबें पढी हैं और वो सचमुच ज्ञान का भंडार हैं। तब मेरी उम्र कुछ पांच बरस रही होगी। मैंने बाद में चुपके से पापा से कहा था कि मां नानी से कह रही थीं कि उन्हें आप पर बड़ा गर्व है। गर्व तो मुझे भी था। बड़ी मामूली सी उम्र में ही मैंने जिंदगी में किताबों की जरूरत और उसकी कीमत को समझ लिया था। उनमें लिखी बातें मैंने बहुत बाद में पढीं, लेकिन मैं हमेशा से जानती थी कि ये किताबें हमारे घर और हमारे होने का निहायत जरूरी हिस्सा थीं। आस-पड़ोस और मुंबई में हमारे रिश्तेदारों में से किसी के यहां गीता प्रेस, गोरखपुर वाला गुटका रामायण, हनुमान चालीसा, तुलसी या कबीर के दोहे छोड़कर कुछ खास किताबें नहीं थीं। कोर्स की किताब भी अगली क्लास में जाने के साथ ही बेच दी जाती और अगले क्लास की सेकेंड हैंड किताबें खरीद ली जातीं। सभी रिश्तेदार आपस में सामानों और गहनों की तुलना करते हुए एक-दूसरे से आगे निकल जाने के लिए होड़ मचाए रहते थे। मौसी की नींद इसी बात से तबाह हो सकती थी कि मामी ने पांच तोले का सोने का हार बनवा लिया है और वो अभी तक ब्याह की पतली चेन से ही गुजारा कर रही हैं।

लेकिन पापा उस दुनिया का हिस्सा नहीं थे। वो अपने तख्ते, लकड़ी के पटरे वाली शेल्फ, टुटे टेबल फैन और किताबों में संतुष्ट रहने वाले जीव थे। मैं भी मुंबईया खचर-पचर वाली दुनिया को देखकर चकित-भ्रमित होती थी, लेकिन फिर इलाहाबाद लौटकर पापा की किताबें देखकर खुश भी हो जाया करती थी।

लेकिन जब वक्त गुजरने और आर्थिक तंगियां बढते जाने के बाद भी पापा के किताबें खरीदने पर लगाम नहीं लगी तो मां की जबान पर भी लगाम नहीं रही। वो नाराज होतीं और दुखी भी। जब बोलने पर आतीं तो बोलती चली जातीं। अपनी नहीं तो कम से कम दो-दो लड़कियों की तो सोचो। उनके ब्याह के लिए कुछ जोड़ो। लड़कियां कुंवारी बैठी रहेंगी और ये किताबों में सिर गाड़े रहेंगे।

मुझे समझ में नहीं आया कि पापा के किताब पढने की वजह से कैसे हमारी शादी नहीं हो पाएगी। जो भी हो, शादी से मुझे वैसे भी चिढ़ थी। बैहराना में महिला सेवा सदन इंटर कॉलेज वाली जिस गली में हमारा एक कमरे का घर था, उसके मुहाने पर एक लारी वाला रोज दारू पीकर अपनी बीवी की कुटम्मस करता था। मकान मालिक चौरसिया बात-बात पर अपनी बीवी पर चिल्लाता रहता था, 'कुतिया के कान में खूंट पड़ी है। हरामजादन सुनती ही नहीं।' बगल के कमरे का किराएदार पूर्णमासी यादव बीवी के घर से जाते ही मुझे बुलाकर गोदी में बिठाने के लिए चुमकारने लगता था। इसलिए मुझे शादी और आदमी के नाम से ही घिन आती थी। अच्छा ही है शादी न हो। इन किताबों के बहाने ही सही।

छुटपन से ही पापा तरह-तरह की किताबें लाकर मुझे देते थे। उनमें लिखी कहानियां मैंने सैकड़ों बार पढी थीं। रोम का वह दास, जिसे भूखे शेर के सामने छोड़ दिया गया था और शेर उसे खाने के बजाय उसके पैरों के पास बैठकर उसके तलवे चाटने लगा था, क्योंकि बहुत साल पहले जब वो शेर घायल था, एंड्रोक्लीज ने उसके पैरों में से कांटा निकाला था। शेर ने उसे नहीं खाया। वो कहानी मैं रोज एक बार जरूर पढती थी।

पापा के पास रूसी कहानियों की एक किताब थी। एक किताब धरती और आकाश के बारे में थी, जिसमें जर्दानो ब्रूनो, कोपरनिकस और गैलीलियो की कहानियां थीं। जर्दानो ब्रूनो को लंबे-लंबे चोगे पहने और हाथों में क्रास लिए पादरियों ने इसलिए जिंदा जला दिया था क्योंकि वो कहता था कि अंतरिक्ष का केंद्र पृथ्वी नहीं सूर्य है। किताब में लिखा था कि ब्रूनो बाइबिल के खिलाफ बोलता था। मैंने बाइबिल नहीं पढी थी, लेकिन दस साल की उमर में ब्रूनो की कहानी पढने के बाद ही मैंने जाना कि धर्म और मुल्कों की सत्ताओं पर बैठे लोगों के हाथ कितने बेगुनाहों के खून से रंगे थे। उन्हीं के कारण कोपरनिकस ने कभी वो नहीं कहा, जो उसे लगता था कि सच है और गैलीलियो ने डरकर माफी मांग ली थी, लेकिन फिर भी उन लोगों ने उसे जेल में डाल दिया था। पापा के पास और भी बहुत सारी कहानियां थीं।

मैं उन कहानियों के साथ बड़ी हुई, जिनमें लिखी हुई हर बात जिंदगी की असल किताब में गलत साबित होने वाली थी, फिर भी उन कहानियों पर मेरा विश्वास आज भी कायम है। असल जिंदगी में कॉरपोरेटों में बैठा शेर एंड्रोक्लीजों को भी खा जाता है। फिर भी मैं चाहूंगी कि मेरा बच्चा एंड्रोक्लीज की कहानी पढकर बड़ा हो और वो एंड्रोक्लीज पर भरोसा करे।

किताबें पापा की सबसे अच्छी दोस्त थीं। वो कहते थे कि उत्तर प्रदेश के जिला प्रतापगढ के जिस छोटे से गांव में वो पैदा हुए थे, वहां से होकर उनके बेहतर इंसान बनने का सारा सफर इन्हीं किताबों से होकर गुजरा था। मुझे भी एक बेहतर इंसान बनना था, इसलिए मैंने उन किताबों को हमेशा अपने पास संभालकर रखा, जिन्होंने सबसे कमजोर और अवसाद के क्षणों में हमेशा मेरा साथ निभाया। उन किताबों को हमेशा ऐसे सहलाया, दुलराया और अपनी छाती से लगाया, मानो वही मेरी प्रेमी हों। वही मुझे संसार के सब गूढ, अनजाने इलाकों तक लेकर जाएंगी, सृष्टि के अभेद्य रहस्यों का भेद खोलेंगी। वो मुझे ऐसे प्रेम करेंगी, जैसा प्रेम के बारे में मैंने सिर्फ किताबों में पढ़ा था।

कभी साहित्य और राजनीति का गढ़ कहे जाने वाले शहर इलाहाबाद के ऑक्सफोर्ड में जहां मैंने बीए तक पढ़ाई की, वहां तब तक पढ़ने-लिखने का कुछ संस्कार बाकी था। जिनके भी साथ मेरी दांत कटी यारी थी, वो सब किताबों से वैसे ही मुहब्बत करते थे। कोई अंबानी नहीं था और न शहर में कॉरपोरेट का व्यापार था। हमारी जेबें खाली होती थीं, लेकिन ट्यूशन, आकाशवाणी या अखबार में कोई छोटा-मोटा लेख लिख देने से

जो भी मामूली सी रकम हाथ में आती, उसे बचा-बचाकर हम किताबें खरीदते थे। दस लोग मिलकर एक छोटी सी लाइब्रेरी बना लेते और आपस में मिल-बांटकर किताबें पढते। हालांकि उस पढ़ने का संसार भी बहुत सीमित था। ज्यादातर पार्टियों की बुकलेट्स, प्रगति और रादुगा प्रकाशन के भीमकाय उपन्यास और मार्क्सवाद क्या है, दर्शन क्या है, भौतिकवाद क्या है, आदि-आदि के बारे में छोटी-छोटी पुस्तिकाएं होती थीं। तब पढने का ऐसा भूत था कि हाथ लगा कोई लिखा शब्द अनपढ़ा नहीं रहता था। और तो और, आज जिस अखबार को मुंह उठाकर भी नहीं देखती, तब अमर उजाला के एडीटोरियल तक छान जाया करती थी। आज जब पढ़ने को इतना अथाह मेरे अपने घर में है और पढ़ने का वक्त नहीं है, सोचती हूं ये किताबें उस उम्र में मिली होतीं तो?

लेकिन वक्त इस तेजी से गुजरा है और उसने ऐसे मेरे हमसफरों की शक्लें बदल दी हैं कि दस साल पहले का उनका ही रूप उनके सामने रख दिया जाए तो शायद उन्हें यकीन न हो कि ये वही हैं। जब हम पढ़ रहे थे, किसी को आभास तक नहीं था कि अचानक इस देश की इकोनॉमी का चेहरा इतने वीभत्स अनुरागी ढंग से बदल जाएगा। पत्रकारिता तब कोई ऐसा ग्लैमरस पेशा नहीं था, और न ही उसमें यूं नोटों की बरसात होती थी। तब इलाहाबाद शहर में 10-10 रुपए जोड़कर सतह से उठता आदमी और कितनी नावों में कितनी बार खरीदने वालों को पता नहीं था कि सिर्फ दस साल के भीतर वो देश की राजधानी में ऐसी अकल्पनीय तनखाहें पर ऐसी आलीशान जिंदगियां जी रहे होंगे, जो उनके छोटे से शहर और घर में दूर की कौड़ी थी।

कितनी आसानी से किसी को सबकुछ देकर उसका सबकुछ छीना जा सकता है और वो उफ तक नहीं करेगा, उल्टे इस छीन जाने के बदले आपका एहसानमंद होगा। इलाहाबाद के वो साथी आज भी दिल्ली के पुस्तक मेलों में परिवार के साथ घूमते हुए मिल जाते हैं और आज जब किताबें न खरीद पाने की कोई मुनासिब वजह नहीं है, कोई किताब नहीं खरीदता। मोटी तनखाहें घर और गाड़ी के लिए लोन देने वाले बैंक उठा ले जाते हैं और जो बचता है, वो बिलों और गाड़ी के पेट्रोल में खत्म हो जाता है। बचता आज भी कुछ नहीं। आज भी वह वैसे ही फोकटिया हैं, जैसे इलाहाबाद में हुआ करते थे। ये पैसा बस अपर क्लास हो जाने के एहसास की तरह उनके दिलों में बसता है। पहले वे जानते थे, अब नहीं जानते कि वे किस वर्ग के हिस्से हैं।

ज्यादातर दोस्तों ने किताबें खरीदना छोड़ दिया है और किताबों के बारे में बात करना भी। गलती उनकी भी नहीं है। जीवन ही ऐसा है। वेतन के अंकों में जीरो बढ़ाते जाने और कॅरियर में एक आला मुकाम हासिल करने के लिए लोग मुंह अंधेरे दफ्तरों के लिए निकलते हैं और रात गए वापस लौटते हैं। बचा वक्त फेसबुक जैसी तमाम बुकों के नाम अलॉट है पर किसी और बुक की जगह नहीं है। लड़कियां तो और भी रिकार्ड तोड़ काम कर रही हैं। किताबें न खरीदने और न पढ़ने के मामले में वो तो मर्दों से भी चार कदम आगे हैं। हिंदुस्तान में चायनीज और कान्टीनेंटल का मार्केट बढ़ते ही वो बड़े गर्व से घरों में भी इसे बनाने की कला सीख रही हैं। बाकी समय बच्चों की नाक पोंछती हैं, पति का पेट भरती हैं और बिल्डिंग की औरतों के साथ इस गॉसिप में मुब्तिला रहती हैं कि कौन कहां किसके साथ फंसा हुआ है। किसके यहां कौन आया और गया। किसका चक्कर किसके साथ, किसकी बीवी किसके हाथ।

बाम्बे में तकरीबन आठ साल इस हॉस्टल से उस हॉस्टल के बीच फिरते हुए जहां-जहां मैंने ठिकाना बनाया, वहां सिर्फ दो लड़कियां मुझे मिलीं, जिनकी किताबों से कुछ जमती थी। एमए में मेरी रुममेट शहला भी बैंड स्टैंड और फैशन स्ट्रीट का चक्कर लगाने वाली शोख हसीनाओं को लानत भेजती और दिन भर अपनी किताबों में सिर गाड़े रहती थी। वह अंग्रेजी से एम.ए. कर रही थी और उसी से मैंने एलिस वॉकर, टोनी मॉरीसन, एन्नी सेक्सटन, नादिन गॉर्डिमर, मारग्रेट एटवुड वगैरह के बारे में जाना और उनकी किताबें पढ़ीं। वरना इलाहाबाद में तो हम गोदान को साहित्य का दरवाजा और प्रगति प्रकाशन की किताबों को आखिरी दीवार मानकर मगन रहते थे।

लेकिन कुछ तो वो उम्र ही ऐसी थी और कुछ हम ज्यादा नालायक भी थे, कि अंग्रेजी की किताबों से ढूंढ-ढूंढकर इरॉटिक हिस्से पढ़ते और कंबल में मुंह छिपाकर हंसते। वो लाइब्रेरी से लेडी चैटर्लीज लवर खासतौर से इसलिए लेकर आई थी कि उसके कुछ विशेष हिस्सों पर गौर फरमाया जा सके। ऐसे हिस्सों का ऊंचे स्वर में पाठ होता था। हम मुंह दबाकर हंसते थे। सो सैड, सो स्वीट, सो किलिंग, सो पथेटिक। टैंपल ऑव माय फैमिलियर पढ़ते हुए शहला बीच-बीच में कहती जाती, ये तो हर चार पन्ने के बाद चूमा-चाटी पर उतर आते हैं।

मैं निराशा से भरकर कहती, 'बस इतना ही।'

'अरे नहीं, इसके आगे और भी है मेरी जान।' शहला आंखें मटकाती।

'पढ़-पढ़-पढ़।' और फिर एक सेशन चलता ऐसे हिस्सों का। लेकिन यूं नहीं कि बस काम भर का पढ़कर हम किताब को रवाना कर देते। हम गंभीरता से भी पढ़ते थे। उसने मुझे एन्नी सेक्सटन पढ़ाया और मैंने उसे हिंदी कविताएं। दूसरी पढ़ने वाली लड़की थी, डॉकयार्ड रोड के हॉस्टल में केरल की रहने वाली बिंदु, जिसने मुझे वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सॉलीट्यूड पढ़ता देखकर कहा था कि वो ये किताब मलयालम अनुवाद में चार साल पहले ही पढ़ चुकी है। उसे न ठीक से हिंदी आती थी और न अंग्रेजी। मलयालम मेरे लिए डिब्बे में कंकड़ भरकर हिलाने जैसी ध्वनि थी। फिर भी पता नहीं कैसे हम एक-दूसरे की बातें समझ लेते थे और दुनिया भर की किताबों और कविताओं के बारे में बात करते थे।

इसके अलावा लड़कियों की दुनिया बहुत पथेटिक थी और वहां किताबों के लिए ढेला भर जगह नहीं थी। वो बेहतर रंग और डिजाइन के चप्पल और अंडर गारमेंट्स जमा करतीं, तेईस प्रकार की लिप्सिटिक और ईयर रिंग्स और इन सबके बावजूद अगर उनका ब्वॉयफ्रेंड पटने के बजाय इधर-उधर मुंह मारता दिखे तो उस दूसरी लड़की को कोसते हुए उसके खिलाफ प्लानिंग करती थीं। उन्हें मर्द कमीने और दुनिया धोखेबाज नज़र आती। लेकिन कमीने मर्दों के बगैर काम भी नहीं चलता। चप्पलों का खर्चा कौन उठाएगा? लब्बेलुआब ये कि मोहतरमाएं दुनिया के हर करम कर लें, पर मिल्स एंड बून्स और फेमिना छोड़ किताब नहीं पढ़ती थीं और मुझे और शहला को थोड़ा कमजेहन समझती थीं।

ऐसा नहीं कि मैं लिप्सटिक नहीं लगाती या सजती नहीं, फुरसत में होती हूं तो मेहनत से संवरती हूं, लेकिन अगर काफ्का को पढ़ने लगूं तो लिप्सटिक लगाने का होश नहीं रहता। हॉस्टल के दिनों में नाइट सूट पहने-पहने ही क्लास करने चली जाती थी और आज भी अगर मैं कोई

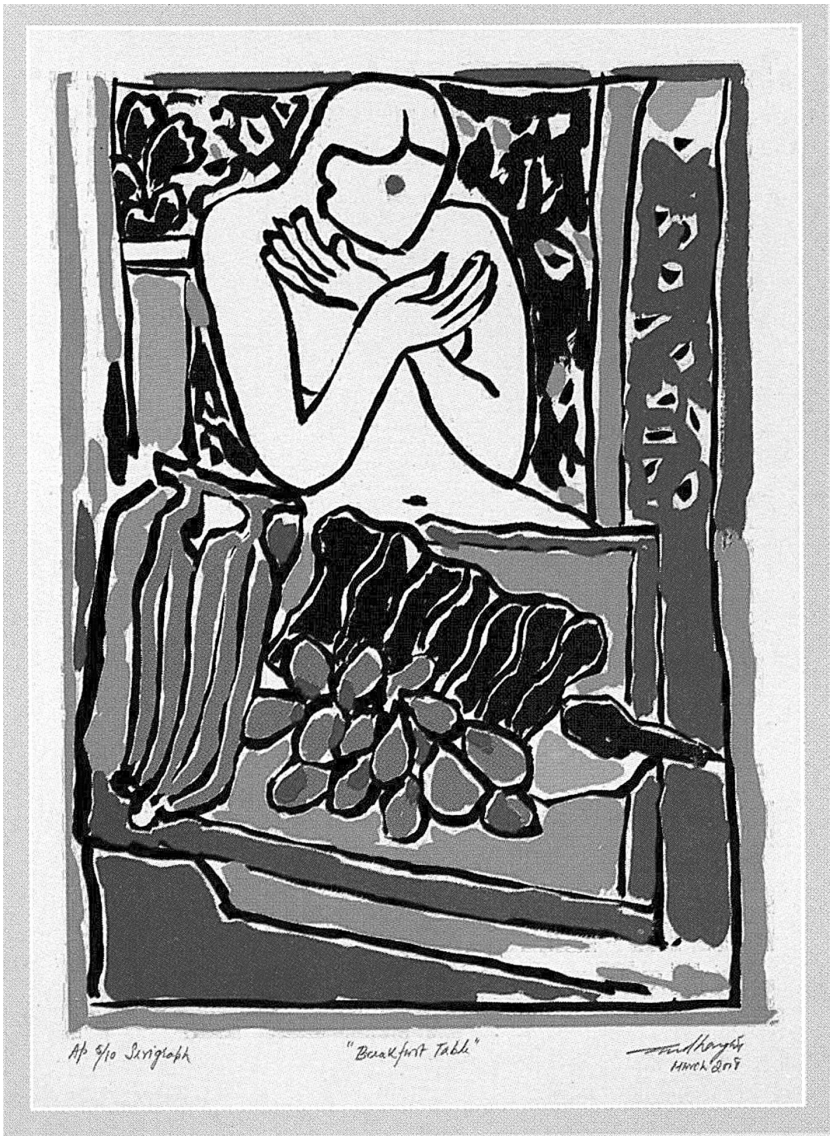

■ *सुधांशु बंदोपाध्याय का सेरिग्राफ*

इंटरेस्टिंग किताब पढ़ रही हूं तो ऑफिस के समय से पांच मिनट पहले किताब छोड़ जो भी मुड़ा-कुचड़ा सामने दिखे, पहनकर चली जाती हूं। होश नहीं रहता कि बालों में ठीक से कंघी है या नहीं। यूं नहीं कि मैं चाहती नहीं कि लिप्सटिक - काजल लगा लूं पर इजाबेला एलेंदे के आगे लिप्सटिक जाए तेल लेने। लिप्सटिक बुरी नहीं है, लेकिन उसे उसकी औकात बतानी जरूरी है। मैं सजूं, सुंदर भी दिखूं, पर इस सजावट के भूत को अपनी खोपड़ी पर सवार न होने दूं। सज ली तो वाह-वाह, नहीं सजी तो भी वाह-वाह।

और कभी महीने में एक-दो बार मजे से संवरती भी हूं। ऑफिस में सब कहते हैं, आज शाम का कुछ प्रोग्राम लगता है। मैं कहती हूं हां, मुराकामी के साथ डेट पर जा रही हूं।

कौन मुराकामी?

एक जापानी ब्वॉयफ्रेंड है।

अल्लाह, हमें हिंदुस्तानी तक तो मिलते नहीं, इसने तो जापानी पटा रखा है।

.....

जीवन की रोशनियों और तारीकियों से आंख-मिचौली खेलते मेरी राह में ऐसे ठहराव आए कि कभी तो मैंने किताबों से नाता तोड लिया तो कभी किताबों में ही ठौर मांगी। बॉम्बे में आठ साल प्रणव के साथ के दौरान मैंने किताबें नहीं खरीदीं क्योंकि उसके पास हजारों किताबें थीं। लगता था, वो सब मेरी भी तो हैं। हमारे जीवन साझे हैं तो किताबें भी हुईं। उसके घर की आधी किताबें हॉस्टल के मेरे कमरे में सजी रहती थीं। फिर जब प्रणव दूर चला गया तो उसके साथ सारी किताबें भी चली गईं। फिर बॉम्बे छोड़ने के बाद मैं कूरियर से एक-एक करके उसकी किताबें वापस भेजती रही। एक दिन सारी किताबें वापस हो गईं और इसी के साथ उसकी किताबों से भी नाता जाता रहा। चार साल हुए, अब मैं फिर से थोक में किताबें खरीदने लगी हूं। अब जेब भी इजाजत देती है कि कुछ अच्छा लग जाए तो पट से खरीद लूं। नौकरी पढ़ने की इजाजत जितनी भी देती है, सुबह-रात मौका मिलते ही पढ़ती हूं। कभी दो-चार दिन की छुट्टी हाथ लगे तो किताबों के साथ सेलिब्रेट करती हूं।

पापा के पास सैकड़ों किताबें हैं और ताऊजी के पास हजारों। लेकिन घर में अब कोई किताब नहीं पढ़ता। ताऊजी से कहती हूं कि उनकी सारी किताबें मेरी होंगी। पहले ताईजी जब भी मेरी शादी के बारे में बात करतीं तो मैं कहती थी कि दहेज में ये सारी किताबें दे देना। ताईजी कहतीं, तेरी सास किताबों समेत उल्टे बांस बरेली भेज देगी। मैं कहती, बुढ़िया की ऐसी की तैसी। उसे मैं आगरा भेज दूंगी। ऐसे ही हम सब खचर-पचर करते गुल्लम-पुल्लम मचाए रहते हैं, पर किताबों से मुहब्बत कम नहीं होती।

जब मां पास नहीं होती तो किताबें मां हो जाती हैं। जब कोई प्रेमी नहीं होता दुलराने के लिए, तो किताबें प्रेमी बन जाती हैं। जब सहेली नहीं होती खुसुर-पुसुर करने और खिलखिलाने के लिए तो किताबें सहेली हो जाती हैं। किताबें सब होती हैं। वो अदब होती हैं और जिंदगी का सबब होती हैं।

इलाहाबाद के आक्सफोर्ड से निकलकर दैनिक जागरण के मुंबई ब्यूरो, टीवी 18, वेब दुनिया और दैनिक भास्कर में महत्वपूर्ण संपादकीय जिम्मेदारी निभाने के बाद इन दिनों इंडिया टुडे में फीचर संपादक। छुट्टियों का इंतजार करती रहती हैं कि कहीं घूमने और फोटोग्राफी हो सके। विश्व साहित्य की सजग पाठक हैं। सिमोन द बोवुआर की स्त्री विमर्श पर साक्षात्कार की किताब और हेनरिक इब्सन के नाटक 'डाल्स हाउस' का हिंदी में अनुवाद किया है।
संपर्क : 08447162226
ईमेल - manishafm@gmail.com

मुंबई में कवि

कविताओं ने मुझे बचाया और मैंने कविताओं को

■ निलय उपाध्याय

महानगर की होड भरी जिन्दगी में किसी के पास कैसे बची रह जाती है कविता, मैं तो बस अपना अनुभव बता सकता हूं। केदार नाथ सिंह की एक कविता है,महानगर में कवि। महानगर में कवि इस तरह रहता है जैसे कुएं मे चुप्पी रहती है और चुप्पी में शब्द रहते हैं। सच कहूं इस मुम्बई के महानगर में मैं बिल्कुल ऐसे ही रहता हूं।

हो सकता है उन कवियों के अनुभव कुछ और हो जिनका महानगर में जन्म हुआ हो पर मैं नौ साल पहले गांव से मुम्बई आया था बयालीस साल की उम्र में। महानगर में जहां दो लोग मिल कर एक बच्चा पैदा करने से डरते हैं, वही मेरे चार बच्चे थे और सभी पढ रहे थे। गांव के अधिकांश लोग महानगर आते नहीं, वहां से उखाड कर फेंक दिए जाते है। अपहरण कांड में जेल जाने और नौकरी से निकाल दिए जाने के बाद मैं भी उखाड कर फेंका गया था, इसलिए मेरी पहली प्राथमिकता थी किसी तरह अपने परिवार को पालना।

उस समय उन कविताओं ने मेरा बहुत साथ दिया जो मैं लिख चुका था। सागर सरहदी ने मुझे आते ही अपनी फ़िल्म दी क्योंकि वे मुझे पहले से जानते थे। अंजन श्रीवास्तव ने कुन्दन शाह के पास भेजा। मेरी मुलाकात अनीश रंजन से हुई जो उस समय कई फिल्में प्रोड्यूस कर रहे थे, उन्होंने मेरा बहुत सहयोग किया और कहा कि निलय जी जो आप है वहीं बने रहिएगा, क्योंकि जो आप नहीं है वो नहीं हो सकते। इस दौर में जब भी मैं कमजोर पड़ा; मुझे कविता की पंक्तियों ने जीवन जीने का साहस दिया खास कर निराला की कविता, राम की शक्ति पूजा। (करो शक्ति की मौलिक कल्पना)। उन दिनों मै हर निराशा से लौट कर इस तरह कविताओं के पास आता था जैसे कोई अपने घर आता है। इस तरह कठिन समय में कविताओं का साथ नहीं छूटा।

थोडे दिन बाद सब कुछ ठीक ठाक हो गया। जीवन पटरी पर आ गया तो कुछ सपने आए और कविताओं को बेदखल करना शुरू कर दिया। वे सपने मकान के थे, गाडी के थे और उच्च वर्गीय जीवन पद्धति में शामिल होने के थे। उन्हीं दिनों मैं एक बार गांव गया था। एक मेरा रिश्तेदार आया और कहा कि भईया आप तो बडे आदमी बन गए हैं, कौन सी गाडी है आपके पास? मैने कहा मेरे पास कोई गाड़ी नहीं है।

उसने यकीन नहीं किया, हंसता हुआ कहने लगा-मजाक करते हैं? बंगलो में रहते हैं और गाडी नही है।

मैने कहा कि भाई मै किराए पर रहता हूं और वो नायगांव में है। जितना किराया मैं देता हूं उसमें अंधेरी में एक कमरे का मकान नहीं मिलेगा। लाख कहने के बाद उसे यकीन नहीं हुआ क्योकि उसने मेरी फिल्में देखी थी, सीरियल भी देखा था। इस घटना का मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। अगर मकान और गाड़ी महानता है तो वो मुझे नहीं चाहिए। मुझे लगा कि अगर मैं यहां पचास की उम्र में घर का स्वप्न देखता हूं तो मरते दम तक उसका कर्ज चुकाना पडेगा। मुम्बई में घर तो बिल्डर बैंक और सरकार का षडयंत्र है। एक आदमी उम्र भर कमाता है और खाते है ये मिल बांट। मुझे इनका शिकार नही होना। इसके बाद मुंबई ने जितने सपने मेरी और भेजे थे, मैने सबको वापस लौटा दिया। काम चुन कर और अपनी शर्तो पर करने लगा। उतना ही जितने में खर्च चल सके। बाकी समय मेरा अपना।

अब मुझे अहसास हुआ अपनी समृद्धि का। गांव के एक गरीब की झोपडपट्टी से मुंबई की बहुराष्ट्रीय कंपनी स्टार तक मेरे अनुभव का जो वितान है वह मेरा असली धन है और मैं आज भी उसका संग्रह कर रहा हूं। यह दृष्टिकोण मुझे कविताओं ने दिया था। इस तरह इस महानगर में कविताओं ने मुझे बचाया और मैंने कविता को।

मुझे कल्प वृक्ष नहीं चाहिए
नहीं चाहिए कामधेनु

इस धरती पर जिन्दा रहने के लिए मुझे
उतना ही अन्न चाहिए जितना चींटी अपने चोंच में लेकर चलती है
उतनी ही जमीन जिसमें पसर सके लौकी की लतर
उतना ही कपास कि ढ़क जाए लाज

स्मृतियों से कल्पना लोक तक सड़क
और नैतिक होने भर शिक्षा
किसी कुबेर का खजाना नहीं चाहिए मुझे
नहीं चाहिए दूध से भरी मगरमच्छो की शतिर नदी

प्रतिष्ठित कवि। प्रभावशाली ढंग से कविताएँ पढ़ते हैं। पिछले कुछ बरसों से मुंबई में रहते हुए सिनेमा और धारावाहिकों के लिए लेखन के साथ-साथ कविताएँ लिखने को अपनी प्रतिबद्धता समझते हैं।
संपर्क : 09272681941
ईमेल : nilayupadhayay@gmail.com

मेरी टेबल

का करि सकत कुसंग

■ अरुण देव

मेरी टेबल मेरे लिए जहाँ आमन्त्रण है, वहीं चुनौती भी, उसके एक सिरे पर बैठ सिर झुकाकर कितनी रातें गुजरी। जब यात्राओं में होता हूँ, लैंप की गिरती रौशनी में कलम की चमकती हुई स्याही मुझे बुलाती है, यात्राओं के टेबल टेक भर होते हैं, थोड़ी देर तक के लिए बस, अनुभव और अनुभूति के संगम पर अपनी मेज़ को पाता हूँ जहाँ से खुद अपने को खोजता हूँ, मैं मेज़ पर कुछ कहने के लिए नहीं बैठता, मैं तो मेज़ पर बैठ शब्दों को सुनता हूँ।

अगर लेखक का कोई घर हुआ तो अपने बैठने की कोई आत्मीय जगह भी वह बना ही लेता है, जहाँ उसकी धुनी रमती है और वह सिद्धहस्त तो हो ही जाता है, मेज़ के बारे में सोचते ही एक साफ सुथरी सी जगह सामने दिख जाती है, जब से लिखने पढ़ने लायक हुआ अपने सामने किसी न किसी मेज़ को पाया, मेरे पिता जहाँ शिकार के शौक़ीन थे। वहीं उनकी लाइब्रेरी में शिकार-कथाओं का भी अम्बार था। सबसे पहले उनकी एक लोहे की मेज़ मुझे मिली जिसे फोल्ड किया जा सकता है। उस मेज़ पर अपनी पसंद की जो पहली किताब मैंने पढ़ी, वह पिता की ही लाइब्रेरी से थी-'मेने इर्ब्स आफ कुमायूं', अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत, इंग्लिश और हिंदी के इस खज़ाने से मैं हिंदी और अंग्रेजी की किताबें पढ़ सकता था, उस समय परेश बनर्जी की एक किताब-'हैण्ड बुक आफ स्नेक बाईट' मेरी प्रिय किताब हुआ करती थी, यह 1929 में खुद लेखक द्वारा ही प्रकाशित है। इसके प्रिय होने के एक साथ कई कारण थे- एक तो इसकी भाषा सरल थी, साँपों के रंगीन रेखाचित्र थे और कुछ श्वेत श्याम फोटोगाफ्स भी। सबसे रोचक इसमें लगभग 1100 सांपों के काटने के केस रिपोर्ट थे। बहुत ही दिलचस्प, साँपों के काटने के कुछ इलाज भी बताएं गए थे। इसी किताब के बदौलत मित्रों को गाहे-ब-गाहे कुछ नुस्खे भी दे दिया करता था।

आज सोचता हूँ यह वह समय था जब देश आज़ादी की लड़ाई में अपने होने को पहचान रहा था। हर जगह नवाचार था पर अपने को खोजने का आत्मसंघर्ष भी, ऐसे समय में एक भारतीय सांपों पर पश्चिमी ढंग से शोध करके उन्हीं की शैली में एक किताब प्रकाशित करता है और वह किताब घरेलू पुस्तकालयों तक पहुँच जाती है।

कल्याण (गीता प्रेस) के सभी शुरुआती अंक थे। उन्हीं में किसी अंक में कबीर पर क्षितिजमोहन सेन का एक लेख पढ़ने को मिला। बड़े-बड़े जिल्दों में 'द टाइम्स आफ इण्डिया' के वार्षिकांक थे। इन पत्रिकाओं में पेंटिग अलग से चिपकाये जाते थे।

धीरे-धीरे इस मेज़ पर अब जासूसी उपन्यासों की भीड़ होने लगी। एक दिन में दो उपन्यास के औसत से सभी उपलब्ध उपन्यास निपटा दिए जाते थे। हंस भी तभी पढने लगा था। मेज़ के एक किनारे अब एक लैपटाप भी है। मेज पर किताबें पढने के बीच कुछ अन्तराल आया है। कई बार कुछ किताबे अधूरी रह जाती हैं जिन्हें पूरा करना है। इस समय मेरी टेबल पर पुरुषोत्तम अग्रवाल की किताब- 'हिंदी सराय : अस्त्राखान वाया येरेवान' है। प्रसिद्ध कथाकार बटरोही का एक उपन्यास है-'गर्भगृह में नैनीताल', इसके कुछ पेज अभी पढ़े हैं। ओम निश्चल द्वारा संपादित -अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएँ। देख रहा हूँ। अनिरुद्ध उमट के निबन्धों का संग्रह-'अन्य का अभिज्ञान' कब से पढ़ने के लिए आमंत्रित कर रहा है। निशांत, राहुल राजेश और प्रियंका पंडित के कविता संग्रह बीच-बीच में पढ़ता रहता हूँ और मुदित होता रहता हूँ।

विज्ञान की पढ़ाई पूरा करके साहित्य की ओर चले गए अरुण देव को जे.एन.यू. आकर समझ और संस्कार के कई संस्करण मिले। कविता के कई संग्रह प्रकाशित। कविता के साथ-साथ वैचारिकी से मानसिक खुराक पाते हैं। इतिहास और समाज विज्ञान पढ़ने में विशेष दिलचस्पी। वेब पत्रिका समालोचन के संपादन के साथ एक महाविद्यालय में अध्यापन।
संपर्क : 09412656938 ईमेल : devarun72@gmail.com

मेरे सिरहाने

सिरहाने से अधिक निस्वार्थ सहचर और कोई नहीं है

■ पुष्पिता अवस्थी

मेरे नहीं.... अपने सिरहाने का सिरा कहां से खोलूं? कहां से शुरु करुँ और कैसे? इसकी कथा....अन्तहीन और अशेष है। सिरहाने से ही जीवन शुरु होता है... और सिरहाने में ही जिंदगी खप जाती है।

वैसे तो, जहाँ सिर होता है.. वहीं सिरहाना होता है इसलिए कभी-कभी लगता है कि सिरहाना हमेशा साथ रहता है। जिस भी देश में रहूं मेरे सिरहाने पर इसका कोई ख़ास असर नहीं पड़ता है। फिर भी कुछ सीमा तक सिरहाना भी वहां का होता है.. जिस देश में वह होता है ... मैं जिस देश में उस घर के अतिथिकक्ष और होटल के सिरहाने होती हूँ, मेरे सिरहाने में वह घर ..वह देश वहां की प्रकृति...वहां की सृष्टि... वहां की संस्कृति...वहां का साहित्य ..वहां की कला मेरा सिरहाना होती है। ...वह रचती है मेरा सिरहाना और सिरहाना रचता है मेरा मन-मेघा और आत्मा का दामन...। जिससे कितनी ही कला-कृतियों का जन्म होता है। कभी-कभी मेरी रातें, मेरा समय, कुछ कालखण्ड के लिए संगीतमय छन्द में बदल जाता है और ये भी स्वयं को ईश्वर की विलक्षण जीवंत फलाकृति के रूप में अनुभव

करने लगती हूँ।

मेरा सिरहाना मुझे रचता है-कभी कलाकार की तरह..कभी मूर्तिकार की तरह ...कभी वह अपने रंगीन धागों से मेरी कशीदाकारी भी करता है उनके रचाव में मेरा चरित्र बनता है, व्यक्तित्व गढ़ता है, जीवन निरखता है, जीवंतता ढलती है। कभी-कभी मेरा सिरहाना रंगरेज की तरह पेश आता है, कबीर के निर्गुणों के रंगों से मैं सज उठती हूँ... निर्गुण का स्वाद मैं अपने सिरहाने महसूस करती हूँ और मेरे मन से कथा के रंज के दुःख के स्वाद मिट जाते हैं।

मेरा सिरहाना ही मेरे जीवन का वास्तविक संवाहक है ... मेरी सांसों और मेरी अपनी धड़कनों की तरह। जबकि 'मेरे सिरहाने' की शुरुआत करने के क्रम में मुझे 'राइनेर मारिया रिल्के' द्वारा लिखित पत्र की भरपूर याद है जो 6 जुलाई 1902 में ...फ्रेडरिक हुख़ को लिखा था।

''मेरा निजी सृजन जब कभी भी विमुख होता है तो मेरे लिए एक वरदान और चमत्कार की तरह होता है। बीच के खेप में 'हमेशा' ऐसा कुछ चाहिए होता है जिसे नए सृजन के होने तक मैं करता रह सकूं.....मैं इतना कम जानता हूँ और मेरे पास उन चमत्कारी शब्दों का अभाव है जिनसे किताबें शुरू की जाती है, मैं कितना कुछ पढ़ना चाहता हूँ...कितना कुछ जानना चाहता हूँ. .. यह जरूरत मेरे भीतर पढ़ाई की योजना के समान्तर चलती रहती है...दरअसल उपाधि लेने की दिशा में कोई कोशिश करना भी अपनी अंदरुनी मदद करना है। मुझे बताना प्रिय फ्रेडरिक हुख़, आपको यह निर्णय कैसा लगा? ऐसी परिस्थितियों में इससे अलग या बेहतर कुछ हो सकता है क्या? मुझे ऐसे परामर्श देना जैसे कोई किसी बच्चे को देता है मेरी यही जरूरत है।''

मेरी भी ...शायद हर संवेदनशील विवेक सम्पन्न रचनाकार की यही आवश्यकता रहती है अपने विचारशील पाठकों और मित्रों से....। एक दिन मेरे सिरहाने रिल्के के उस पत्र को पढ़ रही थी जो उन्होंने 16 जुलाई 1903 में फ्रांस जेवियर काप्पुस को लिखा था। जिस पढ़ते हुए मुझे लगा जैसे...रिल्के...मेरे सिरहाने आकर मुझसे कह रहे हों...

''मुझे बेहतर लगता रहता है कि कहीं भी, कोई भी ऐसा नहीं है जो तुम्हारी गहरी जिज्ञासाओं और भावनाओं का उत्तर दे सकता हों; क्योंकि गहराई में जाकर उनका भी एक अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। बहुत सुस्पष्ट लोग भी इसका वर्णन नहीं कर पाते, क्योंकि शब्दों की पकड़ के लिए यह बहुत ही नाजुक़ लेकिन अनिवार्य स्थिति है। फिर भी मैं ऐसा नहीं कहता कि तुम्हें अपना समाधान नहीं मिलेगा; मिलेगा, यदि तुम्हारा भी वैसी ही चीजों पर विश्वास हैं, जिन पर इस समय मेरी दृष्टि है। उत्तर मिलेगा, यदि तुम्हारा प्रकृति में, प्रकृति की सादगी में विश्वास है, उन छोटी-छोटी निरीह चीजों पर विश्वास है- जो हमारे देखते ही देखते अचानक बड़ी हो जाती हैं। यदि तुम्हारे मन में दीन-दुखियों के प्रति प्यार है और सहज ही तुम एक सेवारत व्यक्ति की तरह दरिद्र का विश्वास जीत सकते हो, तो तुम्हारे लिए सबकुछ ज़्यादा सुगमतर, ज्यादा संगतदार और ज्यादा सामंजस्यपूर्ण बन सकता है। यह सब कुछ तुम्हारे चेतन मस्तिष्क के माध्यम से नहीं होता, जो हमेशा भोंचक-सा पीछे खड़ा रहता है, बल्कि अपनी आत्म-सजगता, जागरुकता और ज्ञान के माध्यम से होता है तुम अभी छोटे हो, सभी प्रकार की शुरुआतों के लिए कच्चे। मैं तुमसे आग्रह करना चाहता हूँ प्रिय मित्र कि तुम अपने मन में डोलते हुए अनिर्णय के प्रति धैर्यवान बनो''।

मेरे जीवन में सिरहाने से अधिक निस्वार्थी सहचर और कोई नहीं है। उसके ठौर में मुझे सर्वदा सुखदायी अनुभूति होती है मेरे दुःख मेरे आंसू को बिना किसी मुआवजे के अपने वक्ष में जगह देता है...सहेजकर रखता है। उसी तरह ...अक्सर ही मेरी नितांत निजी खुशी और सुख को भी मेरे साथ जीता है और सम्हालकर रखता है....और मेरे दुःख के सघनतम क्षणों में ...वह इन्हें प्रकट कर देता है। जीवन की विलक्षण अनुभूतियों के सुख को अहसास के अपने पूरेपन के साथ ...मैंने...अपने सिरहाने के साथ ही जिया है। आँखें मूंदकर... पलकों में छिपाकर ...उस सुख को जीने का अहसास ...सिरहाने में ही नसीब हो पाता है और देर रात तक सिरहाना मेरे उस अविस्मरणीय सुख का साक्षी बना हुआ... मेरे साथ रहता है और मेरे अनुवाद को मेरे ही भीतर गुनगुनाता हुआ मुझमें दुहराता है।

मेरा सिरहाना जीवित सचेत संवेदनशील स्वप्न की जीवंत अनुभूति का निर्मल तरल केंद्र स्थल है, जो जीवन का प्राणदायी अंश है मेरे थकने, ऊबने, जूझने, और चुकने के कई अवसरों पर भी वह मुझे सम्हालता और सहेजता है, दिन में कई बार अप्रत्यक्षतः कवि मुक्तिबोध की तरह ...कोशिश करो...कोशिश करो..जीने की। और अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे... तोड़ने होंगे गढ़ ..मठ ..सब...। तब मैं बिलख कर उससे पूछती हूँ... आखिर कब तक...। मेरा सिरहाना मेरे संघर्ष को जानता है। मेरी ही तरह ...जन्म से ।

कृष्णामूर्ति फाउंडेशन, बनारस के महाविद्यालय में हिंदी की विभागाध्यक्ष से नीदरलैंड के हिंदी यूनिवर्स फाउंडेशन की निदेशक बनने के बीच में वे सूरीनाम राजदूतावास में प्रथम सचिव रहीं। लेखन और यायावरी में मन रमता है। कई कविता संग्रह प्रकाशित, जिनका अंग्रेजी और डच भाषा में अनुवाद प्रकाशित।
संपर्क : 0031-725402005 ईमेल : Pushpita.Awasthi@bkkvastgoed.com

पाठ संस्कार

कलाएं मेरे लिए एक सुंदर पाठ है : भालु मोंढ़े

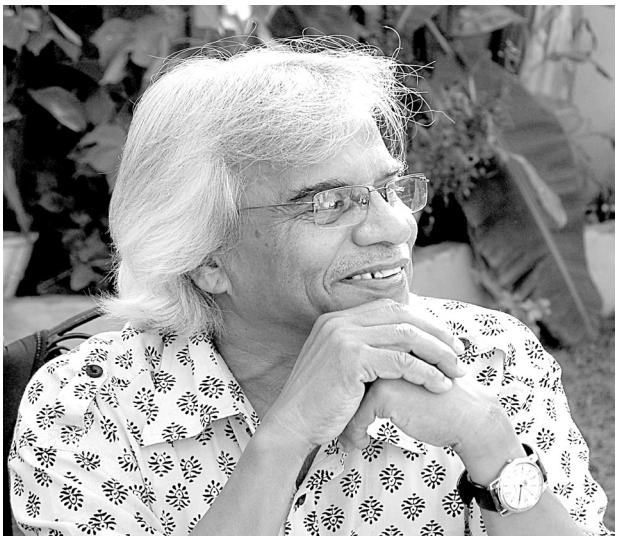

पठन को लेकर मेरी स्मृति भी भारतीय जनमानस की तरह अपने घर, परिवेश और संस्कारों की ही रही है। मुझे याद है तब और शायद अभी भी पारंपरिक हिंदुस्तानी समाज में पठन का पहला अर्थ घर में मौजूद धार्मिक किताबों से होता है। अपनी प्रारंभिक अवस्था की स्मृतियों में झांकते हुए किसी पाठ को सुनने का अर्थ मेरे लिए मेरे घर में बुजुर्गों का नियमित रूप से पढ़ा जाने वाला कोई धार्मिक आख्यान ही था। घर में होने वाला यह नियमित पठन मुझे चमत्कृत करता था। कब मैं खुद इसका हिस्सा बन गया मुझे याद नहीं। अपने पारंपरिक और घरेलू संस्कारों ने ही मुझे पढ़ने के प्रति आकृष्ट किया। एक अर्से के बाद जब सत्तर के दशक में पहली बार मैं अपने मालवा के पारंपरिक परिवेश से बहुत दूर यूरोप पहुंचा तो मेरे लिए दुनिया बदल चुकी थी, साथ ही पढ़ना-लिखना भी। कला की अपनी अकादमिक शिक्षा जर्मनी के 'डेसेलडॉफ एकेडमी ऑफ आर्ट' में लेते हुए पश्चिम के बहुत सारे कला संस्कृति व साहित्य से जुड़े लोगों को सुना, पढ़ा और उनके साथ समय व्यतीत किया। डेसेलडॉफ एकेडमी ऑफ आर्ट वही जगह थी जहां कभी पॉल क्ली जैसे कलाकार और विचारक ने कला की अपनी अकादमिक शिक्षा हासिल की थी। इसी दौरान चित्रकला, रेखांकन, फोटोग्राफी और शिल्पकला जैसे विषयों से संबंधित बहुत कुछ पढ़ने को मिला। एकेडमी की लाइब्रेरी, किताबों के एक कभी खत्म न होने वाले संसार की तरह लगती थी। जहां कई विषयों पर हज़ारों किताबें थी। अपने विषय से संबंधित कोई भी किताब या साहित्य को पढ़ने के लिए मैं हमेशा तत्पर रहता हूँ। प्रकृति और पर्यावरण से जुड़ी हुई बहुत सारी जानकारियों को मैंने कई माध्यमों से अपने संदर्भ के लिए एकत्र किया है और लगातार करता रहता हूँ। मेरा मानना है कि अध्ययन आपकी नियमित दिनचर्या का एक अहम हिस्सा होना चाहिए। यह सब कुछ निर्भर करता है आपकी जीवन शैली पर। तकनीक से सराबोर इस समय में लोग बहुत सारी चीजों से खुद ब खुद अलग हो रहे है जिसमें पठन की प्रवृत्ति भी एक है। यह बात निश्चित ही बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। बहरहाल खुद को सहज और सरल ढंग का पाठक मानता हूँ। आज लेखन संसार में बहुत तेजी से लगभग हर विषय पर लिखा जा रहा है पर जरूरी नहीं है कि हर बात या विषय से खुद को लैस करूं। पढ़ते हुए जो मुझे पसंद आया वह मेरे साथ स्थाई रूप से मेरे जीवन का एक अहम हिस्सा रहा है। मैं आज भी अपने पसंदीदा लेखन को जरूर पढ़ता हूं जो कभी मैंने बहुत साल पहले पढ़ा था। फिर बात चाहे 'भगवद् गीता' के कुछ हिस्सों की हो या साने गुरूजी की पुस्तक 'श्याम ची आई' की।

कुछ साल पहले मुझे अपने दोस्त और ब्रिटिश शिल्पकार जॉन डे के साथ बस्तर में रहकर वहां के पारंपरिक शिल्पकारों के साथ काम करने का मौका मिला था। यह बहुत ही कमाल का अनुभव था। जॉन ने इस यात्रा का बहुत ही सुंदर वृत्तांत किताब की शक्ल में लिखा था। इस वृत्तांत को भी मैं पढ़ता रहता हूँ। कला, साहित्य, संस्कृति और राजनीति के कई बड़े दिग्गजों के साथ मैंने अपने माध्यम में काम किया और उनके काम और जीवन शैली को नजदीक से जानने समझने का मौका भी मिला। कुमार गंधर्व, एन.एस बेंद्रे, राहुल बारपुते, अशोक वाजपेयी, पु.ल. देशपांडे, वेद राही, सुधीर फड़के, सी. रामचंद्र, श्रीराम लागू, वंसत पोतदार व गुंदेचा बंधु जैसे कई दिग्गजों की रचनात्मकता से रूबरू होने का मौका भी मिला। मेरे लिए इनका साथ एक बहुत ही सुंदर पाठ की तरह रहा है। फोटोग्राफी, चित्रकला, शिल्पकला व यात्राएं मेरे लिए एक ऐसे पाठ की तरह है जिसमें जीवन और उसका उल्लास हमेशा ध्वनित होता है। जीवन में जो भी अनुभव मिले वह मेरे लिए एक पाठ की तरह ही है। किसी किताब को पढ़ना या शिल्प को गढ़ना मेरे लिए दो अलग-अलग अनुभूति हो सकती है मगर इनमें एक तरह की आंतरिक समानता महसूस होती है।

प्रस्तुति : राजेश्वर त्रिवेदी

वर्ष 1970 के आसपास कान्हा नेशनल पार्क की अपनी पहली यात्रा से भालु को प्रकृति से प्रेम हो गया था। वे जब वहाँ एक प्रोजेक्ट के तहत टाइगर फोटो शूट करने गए थे। फोटोग्राफी के प्रति असल प्रेम उन्हें अपने जर्मनी के लंबे प्रवास में हुआ था। आज वे समकालीन कला एंव संगीत जगत की तमाम बड़ी हस्तियों के चहेते फोटोग्राफर हैं।
संपर्क : 09893026755 ईमेल : bhalu mondhe@gmail.com

मुझ पर संगीत ऐसे चढ़ गया जैसे साँप पर विष : मल्लिकार्जुन मंसूर

कब चढ़ता है साँप का विष?
कब होती है पत्ती हरी होना शुरू?
कब होता है पत्थर अपने खुरदरेपन में कैद
मैंने कभी इस बारे में नहीं सोचा

मैंने कभी सोचा था
कि वह अटूट लगती साँस रूक जाएगी
वह दूर तक जाकर भी न खोने वाली पुकार गुम हो जाएगी
अपनी निश्छलता में सजल आँख पथरा जाएगी

मैंने कभी नहीं सोचा था कि एक दिन
मैं ऐसे आदमी से मिलूँगा
जिसके आर-पार ऐसे देखा जा सकेगा
मानो कि वह एक पारदर्शी देवता है
हमारी दुनिया का नहीं
और फिर भी हमारी दुनिया के ही गंधों-स्वादों को गाता हुआ

- अशोक वाजपेयी

किसी अप्रतिम गायक का अपने जीवन के बारे में लिखा हुआ पढ़ना संगीत के रसास्वादन के समकक्ष ही लगता है। पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर की यह आत्मकथा पढ़ते हुए सहज ही भक्तिकाल के संत कवि याद आ जाते हैं।

उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वीकारा भी है- ''जिन अंगुलियों से लगभग 50 साल तक तानपुरा बजाता आया हूँ, उनसे कलम थामना अजीब सा लग रहा है। काफी घबराहट के साथ मैंने यह दुस्साहस मोल लिया है। अपनी लेखन क्षमता पर मैंने कभी सान नहीं चढ़ाई और न ही जिंदगी की घटनाओं को डायरी में दर्ज करने की मेरी आदत है। इसलिए स्मृति के गलियारों की यात्रा सिर्फ और सिर्फ मेरी याददाशत पर निर्भर है।''

दरअसल कन्नड के प्रतिष्ठित उपन्यासकार ए.एन. कृष्णराव लंबे समय तक पंडित मंसूर से अपनी आत्मकथा लिखने का आग्रह करते रहे। ऐसा ही आग्रह मराठी के ख्यातिलब्ध साहित्यकार पु.ल. देशपांडे उनसे करते रहे। उन्होंने अपनी यह आत्मकथा कन्नड में लिखी थी। जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्हीं के बेटे और गायक पंडित राजशेखर मंसूर ने किया। हिंदी के पाठकों के लिए इसका हिंदी अनुवाद युवा कवि और आलोचक मृत्युंजय ने किया है।

लेखकों की तरह अगर गायन-वादन करने वाले साधकों का जन्म शताब्दी वर्ष मनाया जाता तो पंडित मंसूर का वर्ष 2010 में शताब्दी वर्ष मना होता। लेकिन संगीत के रसिक इस तरह से औपचारिक स्मरण में यकीन नहीं करते। उनके अनगिनत चाहने वालों की सुबह ही पंडित जी को सुनते हुए होती है। असल में उनका गायन प्रकृति का ही ऐसा अविभाज्य अंग लगता है जिसे केवल हमें सुनने का उपक्रम मात्र करना होता है। खुद पंडित जी ने कहा है कि संगीत का व्यावहारिक पक्ष किसी किताब से नहीं सीखा जा सकता।

पंडित जी का जन्म 31 दिसंबर 1910 की अमावस्या पर हुआ था। पता चला कि वे अशुभ माने जाने वाले मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे। यह आम धारणा थी कि यह बालक अपने माता-पिता के लिए तबाही लाएगा। प्रायः ऐसे बच्चों को किसी को गोद दे दिया जाता था। तब घर के बुजुर्गों ने उन्हें मठ के सुपुर्द कर दिया। उनकी माँ जब उदास हो गई तब मठ के दयालु गुरु ने उनकी माँ से कहा कि इस बालक को मुझे दे दो, पर यह रहेगा तुम्हारे पास ही। किसे पता था कि बयासी वर्ष की सुरीली जिंदगी जीने के बाद उनका अवसान वास्तव में उन लाखों संगीत रसिकों को हमेशा-हमेशा के लिए उनकी आवाज को गोद दे दिया जाएगा।

पंडित जी का पहला एचएमवी रिकार्ड वर्ष 1933 में आया था। राग गौड मल्हार में बंदिश 'सैयां मोरा रे' और राग अदाना में बंदिश 'कंगनवा मोरा हाथ' ये दोनों बंदिशें ग्वालियर घराने की उपज थीं। उनके अवसान के बाद 'इन मेमोरियल' नाम से उनके शुरूआती गायन का एक कैसेट भी जारी हुआ है।

पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर की यह आत्मकथा 'रसयात्रा' पढ़ते हुए यह अंदाज लगाया जा सकता है कि ऐसे संत गायक ने अपना जीवन कैसे सादगीपूर्ण और केवल संगीत के लिए जिया। उनके लिए संगीत सर्वोपरि था। अनुवाद के जरिए ही सही हिंदी में उपलब्ध उनकी यह आत्मकथा मेरे निजी संग्रह की एक अमूल्य धरोहर है। मैं भाग्य को कभी नहीं मानता। लेकिन पिछली सदी के आठवें दशक में जब एकाधिक बार उन्हें गाते हुए सुना था, तब से अब तक इस रसश्रुति के लिए मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ।

■ राकेश श्रीमाल

रसयात्रा
पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर
कन्नड से अंग्रेजी अनुवाद : पं.राजशेखर मंसूर
अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद : मृत्यंजय
सूर्य प्रकाशन मंदिर
दाऊजी रोड, बीकानेर
मूल्य : 150/

गैब्रिएल गार्सिया मार्खेज

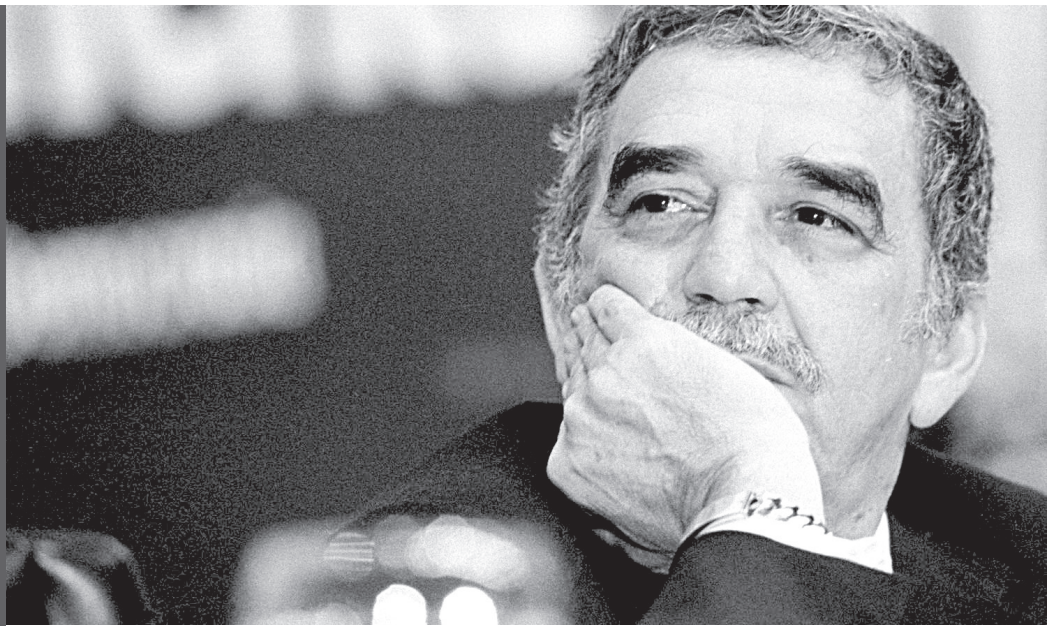

मार्खेज का 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सोलिटयूट' सत्रहवीं सदी के उपन्यास 'डान क्विक्जोट' के बाद स्पेनिश भाषा में लिखी गई महानतम कृति है।

– पाब्लो नेरूदा

(इस उपन्यास का विश्व की 35 भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इसकी 5 करोड़ प्रतियाँ बिक चुकी हैं।)

स्मरण में कुछ वाक्य

■ यह दुनिया कितनी वाहियात है जहाँ इंसान पहले दर्जे में सफर करते हैं और किताबें माल रखने वाले डिब्बों में।

■ यदि किसी युवा लेखक को मुझे कोई सलाह देनी हो तो उन्हें मैं ऐसी किसी बात के बारे में लिखने को कहूँगा जो उनके साथ घटित हुई हो। यह पता लगाना हमेशा बहुत आसान होता है कि कोई लेखक अपने साथ घटित किसी बात के बारे में लिख रहा है या किसी पढ़ी या सुनी गई बात के बारे में।

■ एक प्रसिद्ध लेखक को, जो अभी और लिखना चाहता हो, प्रसिद्धि से लगातार खुद को बचाना होता है।

■'अलिफ़ लैला के हज़ार अफ़साने' के बाद मैंने जाना और यह बात गाँठ बाँध ली कि हमें सिर्फ उन्हीं किताबों को पढ़ना चाहिए जो खुद को दुबारा पढ़ने के लिए हमें मजबूर कर दें।

■ किताबें चुराना अपराध तो है मगर पाप नहीं।

■ लिखने के लिए सबसे उपयुक्त जगह सुबह के समय एक निर्जन द्वीप और शाम के समय कोई महानगर होता है। सुबह के वक्त मुझे शांति चाहिए होती है और शाम को थोड़ी शराब और बातचीत करने के लिए कुछ अच्छे दोस्त। विलियम फॉकनर का ऐसा ही कुछ मतलब रहा होगा जब उन्होंने कहा था, ''लेखक के लिए सबसे सही जगह एक वेश्यालय है क्योंकि सुबह यह बहुत शांत होता है जबकि हर रात यहां मौजमेले चलते हैं।''

■ किसी किताब का पहला वाक्य उसकी शैली, संरचना और यहां तक कि उसके विस्तार को परखने की प्रयोगशाला हो सकता है।

■ किताब लिखने के बाद मेरी दिलचस्पी उससे हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है. जैसा कि हेमिंग्वे कहा करते थे, वह एक मरे हुए शेर की तरह हो जाती है।

प्रस्तुति : मनोज पटेल